प्रथम सस्करण १९५३

मूल्य ३॥।)

साठे और लीला
के लिए

प्रकाशकीय

'सरगम', बम्बई के सम्पादक; सफल फिल्मों के निर्देशक और प्रगतिशील पत्रकार के रूप में ख्वाजा अहमद अब्बास का नाम भी 'अश्क', यशपाल और कृष्ण चन्दर की तरह हिंदी का अपना हो गया है। इधर अब्बास के दो कहानी-संग्रह निकले हैं—'अवध की शाम' और 'दिया जले'। मेरा बेटा मेरा दुश्मन उनकी एकदम नयी कहानियों का अनुपम संग्रह है, जिसकी हर कहानी पर अब्बास के कलम और व्यक्तित्व की छाप है।

अब्बास के बारे में एक आलोचक ने लिखा है कि उस समय, जब दूसरे लोग कल्पना के इन्द्रजाल बुन रहे थे, अब्बास उठा और जिन्दगी की हकीकतों पर टूट पड़ा। विद्वान आलोचक के इस बयान में ज़रा अत्युक्ति नहीं। अब्बास की कहानियाँ हमारी रोज़ की जिन्दगी

कहानी की कहानी

लगभग सभी भारी-भरकम आलोचक इस विषय में एक मत हैं कि मैं साहित्यकार नहीं, पत्रकार हूँ, और मेरी कहानियों में निरन्तर पत्रकारिता झलकती है। यह भी आपने अवश्य सुना होगा कि मैं उच्च साहित्य की रचना करने के बदले अख़बारों में पढ़ी-पढ़ाई ख़बरों को कहानी का रूप देकर, कहानी के नाम से छपवा देता हूँ। इसलिए आपको कोई ताज्जुब न होगा, यदि मैं यह कहूँ कि कहानी मेरे दिमाग़ में देववाणी के रूप में नहीं आती, बल्कि वह किसी व्यक्तिगत अनुभव और देखी हुई या सुनी हुई या अख़बार में पढ़ी हुई घटनाओं पर आधारित होती है। दरअसल मेरा ख़याल है कि हर कहानी की भी एक अपनी कहानी होती है कि वह कैसे और क्यों और किन परिस्थितियों में लिखी गयी और उसके लिखने के बाद लिखने वाले पर क्या बीती. . . और कभी-कभी यह 'कहानी की कहानी' असल 'कहानी' से भी ज़्यादा अजीब और दिलचस्प होती है और फिर कहानी तो आखिर

पंक्ति के साथ खतम हो जाती है, पर 'कहानी की कहानी' तो चलती ही रहती है और लिखने वाले के दिमाग से लेकर पढने वाले के दिमाग़ तक पहुँचते-पहुँचते डाकखाने, अस्पताल, बल्कि अदालत, जेलखाने और कभी-कभी पागलखाने की भी नौबत आ जाती है। मिसाल के तौर पर आप मेरी बदनाम कहानी 'सरदार जी' को ही लीजिए.

•

अगस्त-सितम्बर, सन् १९४७ में पश्चिमी और पूर्वी पंजाब और दिल्ली की भयानक घटनाएँ मैंने अपनी आँखों से नहीं देखीं, पर नयी बनी सीमा के दोनों ओर मेरे दोस्त और सगे-सम्बन्धी मौजूद थे, जिनकी ज़बानी या जिनके खतों से, या जिन पर इन घटनाओं की प्रतिक्रिया को देखने से मुझे इस खूनी नाटक की असलियत मालूम हुई। शेखूपुरा में मेरे एक हिन्दू दोस्त के सेकड़ों रिश्तेदार और पड़ोसी मौत के घाट उतार दिये गये। वह स्वयं बम्बई में मेरे पास था और एक महीने तक वह समझता रहा कि उसके माँ-बाप और भाई-बहन भी इसी क़त्ले-आम का शिकार हुए। उसके चेहरे से मुस्कराहट ग़ायब हो गयी। उसकी आँखों की गहराई में एक अजीब घबराहट दिखायी देती। रात को वह डरावने स्वप्न देख कर रोने लगता, और समुद्र के शोर में उसे अपनी माँ और बहनों का रुदन सुनायी देता। मुझे वह क्षण भी याद है जब एक महीने के बाद उसे अपने पिता का पत्र मिला। लिफाफा खोलते समय उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों में आँसू थे, क्योंकि उसे विश्वास न होता था कि उसके घर वाले जीवित हो सकते हैं। परन्तु वे बच गये थे। उनके एक मुसलमान पड़ोसी ने क़त्ले-आम से पहले उन्हें सुरक्षित करके रातों-रात उनको क़स्बे से बाहर पहुँचा दिया था और वे हिफ़ाज़त

ही कष्ट झेलने के बाद पैदल अमृतसर पहुँच गये थे। यद्यपि वे अपना सब कुछ खो आये थे, पर अपनी जान और अपनी औरतों की इज्जत बचा लाये थे। और उस जमाने में यह भी गनीमत था। और मैंने देखा कि खत में यह पढ़कर कि उसके घर वालों को एक मुसलमान ने बचाया था, मेरे दोस्त की आँखों में से वह ग़ैरइन्सानी वहशत और बर्बरता और उसके चेहरे से वह भयानक कठोरता और क्रूरता जाती रही, जिसे मैं एक महीने से देख रहा था।

फिर मेरे अपने कस्बे पानीपत से बुरी ख़बरें आने लगीं। कस्बे के जो मुहल्ले बाहर की तरफ थे, वहाँ मार-धाड़ शुरू हो गयी और पश्चिमी पंजाब से हजारों लुटे-पिटे हिन्दू और सिक्ख शरणार्थियों के आने के बाद पानीपत के मुसलमानों की जान और इज्जत खतरे में पड़ गयी। और फिर मैंने एक महीना उसी हालत में गुजारा जैसे पिछला महीना मेरे हिन्दू दोस्त ने बिताया था। ख़त और तार आने बन्द हो गये। दिल्ली में मेरे जो रिश्तेदार थे, वे पानीपत न जा सके। बम्बई से दिल्ली जाना भी खतरनाक हो गया था। फिर सुना कि पश्चिमी पंजाब का बदला दिल्ली में लिया जा रहा है। अखबार में पढ़ा कि क़रोल-बाग में काफी हत्याएँ और लूट-मार हुई। वहाँ मेरी भानजी अपने शौहर के साथ रहती थी। तीन और भानजियाँ कुछ हफ्ते हुए बम्बई से दिल्ली गयी थीं, अलीगढ़ में अपने कालिज जाने के लिए मेरे चचेरे भाई नयी दिल्ली में रहते थे। रात और दिन इस चिन्ता में कटते कि न जाने उन सब पर क्या बीती। खत भेजे, तार दिये। फिर इन्तजार के बाद खत आया। मालूम हुआ कि उन के सब मकान लुट गये, पर किसी तरह जान और इज्जत बचाकर उन सबने मौलाना आज़ाद के यहाँ पनाह ली है। इस बीच में पं० जवाहर लाल नेहरू की कृपा से दिल्ली से एक फौजी लारी पानीपत भेजी गयी और रातों-रात

खानदान की औरतों और बच्चों को अपने पुश्तैनी मकानों को छोड़ कर (जिनमें हमारे बुजुर्ग छः-सात सौ नर्ष से रहते चले आ रहे थे।) दिल्ली आ जाना पडा। पानीपत की बाकी मुसलमान आवादी पाकिस्तान जाने पर मजबूर हो गयी। वीम दिन तक मेरी माँ और बहनों, और भानजियों-भानजों को दिल्ली में एक छोटे से कमरे में कैद रहना पडा। फिर हवाई जहाज-द्वारा वे सब बम्बई पहुँचे और हम सब ने कई महीने के वाद इतमीनान की साँस ली।

मेरी भानजियाँ किसी तरह दिल्ली से अलीगढ पहुँच गयीं और जब मैने उनके खत में यह पढा कि "दिल्ली में बड़े भयानक दृश्य देखे। मगर क्या शिकायत करें, जब हमें मालूम है कि पश्चिमी पंजाब में उससे भी ज्यादा खून-खराबा हुआ है। . रहा कपड़ा और सामान, जो लुट गया या जल गया तो अच्छा ही हुआ। जरूरत से ज्यादा कपड़े बनाने का हमारा शौक था ही बेकार। अब मालूम हुआ कि गुजारा एक जोड़े कपड़े में भी हो सकता है।" तो मेरा मस्तक गर्व से ऊँचा हो गया कि हमारे खानदान की बच्चियाँ भी इस कड़े इम्तहान में पूरी उतरीं।

जी और उनके घर वालों ही ने तो।... "और मेरी आँखों में खुशी के आँसू आ गये।

अपने चचेरे भाई अजहर की जबानी वह पूरी घटना मालूम हुई। करोलबाग से वे चारों भानजियों को बाबर रोड के निकट अपने घर में ले आये थे। एक दिन सुबह खबर आयी कि बाबर रोड पर मुसलमानों के मकानों पर हमला हो रहा है। उनके बराबर में एक बूढे सरदार जी रहते थे। वे भागे हुए आये और मेरे भाई और भानजियों को जबरदस्ती अपने क्वार्टर में ले गये। कुछ मिनट बाद ही वहाँ हमलावरों की लारी आकर रुकी। मेरे भाई के मकान को पूरे तौर से लूट लिया गया और सिर्फ वे कुछ चीजें बचीं, जिन्हें सरदार जी के बच्चे झूठ-मूठ की लूट में शामिल होकर लाते गये और अन्दर मेरी भानजियों को देते गये। हमलावरों के सवाल के जवाब में सरदार जी ने कह दिया कि वे सब तो पाकिस्तान चले गये हैं, यहाँ कोई मुसलमान नहीं है।

और फिर अजहर ने बतलाया कि किस तरह वह सरदार जी के बरामदे की चिक में से अपने घर-बार को लुटते हुए देख रहे थे। जब सरदार जी एक नंगी कृपाण लिये उनके पास आये और इशारे से अन्दर के कमरे में बुलाया, कुछ डरते-झिझकते जब ये कमरे में पहुँचे तो सरदार जी ने और अन्दर की कोठरी की ओर उसी नंगी कृपाण से इशारा किया। अब तो अजहर को विश्वास हो गया कि आज इसी कृपाण से खातमा होने वाला है। लेकिन मरता क्या न करता। अन्दर कोठरी में पहुँचे तो देखा सरदारनी साहबा चाय बना रही हैं और चारों लड़कियाँ बैठी चाय पी रही हैं और झूठ-मूठ की लूट में जो सामान सरदार जी के बच्चे लाये हैं, वह रक्खा हुआ है। सरदार जी ने कृपाण अजहर की ओर बढाते हुए कहा – 'यह तुम रक्खो जी, अपनी हिफाजत के लिए। जब तक हम जिन्दा हैं, तुम्हें कोई हाथ नहीं लगा

सकता। हाँ अगर हम मारे जायँ तब तुम्हें अपनी हिफाजत आप करनी होगी।"

मैं यह घटना सुन रहा था और मेरे दिमाग में एक कहानी का ढाँचा बनता जा रहा था। मैंने सोचा, कितनी दिलचस्पी और नाटकीयता है इस घटना में। मुसलमानों और सिक्खों के बारे में कहा जाता है कि ये दोनों जातियाँ एक दूसरे की दुश्मन हैं, एक दूसरे के खून की प्यासी हैं। फिर भी एक सिक्ख ने अपनी जान को खतरे में डालकर एक मुसलमान की जान बचायी। क्यों? उन सरदार जी ने सफ़र में यह भी न पूछा था कि तुम नैशनलिस्ट हो या मुस्लिमलीगी? हो सकता है मुसाफ़िर पुराने राष्ट्रवादी (जिसने सरकारी अफ़सर होते हुए पाकिस्तान जाने से इनकार किया था) होने की जगह कट्टर मुस्लिम-लीगी होते, सिक्खों से घृणा करते, उनका मजाक़ उड़ाते और फिर [illegible] उनकी जान बचाता तो [illegible] तो [illegible]?

हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के रक्त के प्यासे थे, वहाँ काश्मीर में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सब एक थे और मिलकर अपने देश की रक्षा कर रहे थे। हम सब साम्प्रदायिक दंगों की आग के झुलसे हुए थे। दिमाग किसी रचनात्मक कार्य के योग्य ही न रहे थे। लेकिन कितना स्वस्थ, कितना सुखद था सन् ४७ के काश्मीर का जलवायु! बहुत जल्द हमारे दिलों के जख्म भरते गये और एक बार फिर हम लिखने, पढ़ने, सोचने और बहस करने के काबिल हो गये।

श्रीनगर में बिताया हुआ वह महीना भी हमेशा याद रहेगा। उर्दू, हिन्दी लेखकों का ऐसा जमाव शायद ही कभी हुआ हो। राजेन्द्र सिंह बेदी रामानन्द सागर, नवतेज सिंह, श्रीमती चन्द्र किरण सोनरिक्सा, शिवदान सिंह चौहान, शेर जंग, सैंगर और फिर काश्मीर के कवि और लेखक, मजदूर शायर आसी, प्रेमनाथ परदेसी, आरिफ, सोमनाथ जुत्शी आदि। प्रतिदिन शाम को साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों का एक बेक़ायदा जलसा होता। कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, लेख पढ़ कर सुनाये जाते, वाद-विवाद होते। मुझ से भी कहा गया, "कोई कहानी सुनाओ। पर मैंने बहुत दिनों से कोई नयी कहानी लिखी ही न थी। सोचने लगा, क्या लिखूँ और क्या सुनाऊँ।

उसी रात को पहली बार बर्फ पड़ी थी। मैं और राजेन्द्र सिंह बेदी बी० पी० एल० बेदी के यहाँ से इकट्ठे वापस आ रहे थे। दंगों में क्या-क्या हुआ और हमारे जानने वालों पर क्या बीती, इस पर बात-चीत हो रही थी। राजेन्द्र सिंह ने अपनी शिमले की एक मनोरंजक घटना सुनायी कि किस तरह उसने और उसके भाई ने कुछ पड़ोसी मुसलमान स्त्रियों को बचाकर उन्हें पाकिस्तान भिजवाया। रात के समय जब कर्फ्यू लगा हुआ था, उनको रिक्शा में सवार कराके ले

चले। सुरक्षा के लिए अपने हाथों में नंगी कृपाणें ले लीं। (और राजेन्द्र सिंह बेदी जैसे साकार-अहिंसा के हाथ में नंगी कृपाण की कल्पना करके मैं मन-ही-मन हँसा भी और रोया भी।) रास्ते में पुलिस वालों ने उन्हें गिरफ्तार करना चाहा और बड़ी मुश्किल से उन दोनों भाइयों ने विश्वास दिलाया कि वे उन औरतों को भगाकर नहीं ले जा रहे, बल्कि हिफाजत से पाकिस्तान की लारियों में सवार कराने ले जा रहे हैं ..और फिर राजेन्द्र ने यह भी बताया कि किस तरह बूढ़ी मुसलमान महिला उन सिक्खों की दया और मानवता से प्रभावित होकर न केवल स्वयं पर्दा तोड़ कर उनके सामने आ गयीं, बल्कि उन्होंने अपनी बेटियों से भी पर्दा हटाने को कहा और बोलीं—'इनसे क्या पर्दा ? ये तुम्हारे भाई हैं।.. ."

और उस समय मेरे दिमाग में सरदार जी की कहानी पूर्ण हो गयी।

कमरा बन्द करके लगातार चौदह घंटे मैंने वह कहानी लिखी। कई घंटे इस सोच-विचार में बीत गये कि कहानी किस ढंग से लिखी जाय। मैं कोई सीधा प्रचारात्मक ढंग न अपनाना चाहता था, जिससे पाठक पहले ही समझ जाय कि कहानी में मुस्लिम-सिक्ख एकता का प्रचार किया गया है। यदि ऐसा ही करना होता तो कहानी लिखने की जगह इस्माईल मेरठी की ये सीधी-साधी पंक्तियाँ लिखनी ही काफी थीं

हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई,
आपस में हैं भाई भाई।

यदि कहानी को प्रभावशाली बनाना है तो उसे किसी दूसरे ढंग से लिखना होगा। मैंने सोचा, वह ढंग क्या हो ? क्यों न कहानी को

उस मुसलमान के मुँह से कहलवाया जाय जिसको जान सिक्ख सरदार जी ने बचायी। और अगर उस मुसलमान को एक अत्यन्त कट्टर और सिक्खों से घृणा करने वाला मुस्लिमलीगी बना दिया जाय तो कहानी का प्लाट और भी मजबूत हो जाय और सरदार जी का बलिदान और भी शानदार! इसके अतिरिक्त इस तरह कहानी में उत्सुकता का पहलू भी आ जायगा। क्योंकि अन्त तक पाठक यह न समझ पायेगा कि क्या होने वाला है। और इस प्रकार सरदार जी का बलिदान एक नाटकीय महत्व प्राप्त कर लेगा। तब पाठक जानेंगे कि किस तरह एक सिक्ख ने अपने प्राण देकर मानवता के मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा कर दी और एक मुसलमान के दिल में बचपन से चले आते सिक्खों के प्रति घृणा के भावों को सदा के लिए खतम कर दिया।

"यह सरदार जी नहीं मर रहे थे। यह मैं मर रहा था, पुराना मैं!" यह वाक्य मैंने कहानी लिखने से पहले ही याददाश्त के लिए लिख लिया था क्योंकि यही मेरी कहानी का उत्कर्ष था और यही उसका सार भी था।

मैंने सोचा कि आखिर मुसलमानों और सिक्खों के बीच घृणा क्यों है? इसके कुछ ऐतिहासिक कारण हैं और कुछ मनोवैज्ञानिक और अधिकांश ऐसे जिनका अक्ल से दूर का भी नाता नहीं। कहानी कहने वाले पात्र के द्वारा उनका उल्लेख भी क्यों न कर दिया जाय? और साथ-साथ ऐसे संकेत भी कर दिये जायें, जो पढ़ने वाले पर साबित कर दें कि इनकी असली जड़ एक अंध विश्वास के सिवा और कुछ नहीं। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि सिक्ख लोग जाति के रूप में उतने ही समझदार हैं जितने हिन्दू या मुसलमान या ईसाई। औरों की तरह उनमें अक्लमन्द भी हैं, मूर्ख भी और बुद्धू भी। न बुद्धि किसी एक जाति की जायदाद है, न मूर्खता। जो जाति गुरु

नानक जैसा धार्मिक नेता, काश्मीर के महात्मा बुद्ध सिंह जैसा त्यागी नेता, भगत सिंह जैसा क्रान्तिकारी, राजेन्द्र सिंह बेदी जैसा लेखक और 'मख़मूर' जालंधरी जैसा शायर पैदा कर सकती है, उस पर कोई मूर्ख ही मूर्खता की तोहमत लगा सकता है। बारह बजे का चुटकुला हँसने-हँसाने के लिए ठीक है (जैसे आयरिश, स्काट, बिहारी, बंगाली, बलियाटिक, पठान, मद्रासी, शिकारपुरी आदि कई प्रदेशों के वासियों अथवा कई सम्प्रदायों के अनुयायियों के बारे में ऐसे ही चुटकुले मशहूर हैं), पर इसे पूरी सिक्ख जाति के मूर्ख होने की दलील समझना स्वयं सब से बड़ी मूर्खता है। इसलिए मैंने कहानी में दिखाया कि सरदार जी की मृत्यु ठीक बारह बजे होती है, जिससे कि कहानी स्वयं पुकार-पुकार कर कह दे कि यदि इन्सानियत और इन्साफ की खातिर एक मुसलमान की जान बचाने के हेतु अपनी जान देना मूर्खता है, तो बेशक 'सरदार जी' पर यह इलज़ाम लगाया जाय कि वह बारह बजे अपनी अक़्ल खो बैठे हैं।

साथ ही मैंने गुलाम रसूल के चरित्र के ज़रिये यह दिखाने की कोशिश की कि मुसलमानों में भी ऐसे इन्सान-दोस्त मौजूद हैं, जो मुमकिन है, सिक्खों के बारे में चुटकुले गढ़ते या सुनाते हों, पर वक़्त पड़े तो अपनी जान पर खेल कर अपने सिक्ख पड़ोसियों की जान बचाने में पीछे नहीं रहते।

कहानी का एक व्यंग्यात्मक पहलू यह भी था कि गुलाम रसूल के सुनाये हुए चुटकुलों को सच समझ कर मूर्ख बुरहानुद्दीन उनसे घृणा करने लगता है, पर उन चुटकुलों को सुनाने वाला गुलाम रसूल स्वयं अपनी इन्सानियत नहीं खोता और सरदार जी के कुटुम्ब को रावलपिंडी में बचाता है।

शाम को लगभग सात बजे मैंने कहानी पूरी की और तुरन्त ही

गेस्ट-हाउस न० ४ पहुँच गया, जहाँ दूसरे प्रगतिशील लेखकों के अतिरिक्त राजेन्द्र सिंह बेदी, नवतेज सिंह और चार सिक्ख फौजी अफसर भी उस शाम की गोष्ठी में शरीक थे। मैंने सोचा, अच्छा है, कहानी के बारे में इन सब सिक्ख दोस्तों की राय मालूम हो जायगी। जब मैंने कहानी सुनाना शुरू की, तब पहली कुछ पंक्तियों को सुनकर महफिल में कई ठहाके लगे और मैं घबराया कि कहीं व्यंग्य के असल उद्देश्य को नजर-अन्दाज करके सब लोग इन चुटकुलों पर ही हँसते न रहें। लेकिन शीघ्र ही यह हँसी गम्भीरता में बदल गयी। प्रतिभाशाली चेहरों पर सोच और चिन्ता की लकीरें पड़ गयीं और उसके बाद 'मैं' (यानी सेक्रेटेरियट के मुस्लिमलीगी क्लर्क शेख बुरहानुद्दीन) के जहरीले जुमलों पर कोई न हँसा। जब कहानी खतम हुई तो कई मिनट तक खामोशी छायी रही।

अभी साहित्यकार कहानी के साहित्यिक माप-दंड को मन-ही-मन जाँच रहे थे कि सिक्ख फौजी अफसरों में से एक ने अपना परिचय कराते हुए कहानी की प्रशंसा की और फरमाइश की कि जिस पत्रिका में वह छपे, उसकी एक प्रति मैं उन्हें जरूर भेजूँ।

जहाँ तक मुझे याद है, जितने साथी वहाँ मौजूद थे, सब ने कहानी को पसन्द किया और कुछ ने कहा कि 'सरदार जी' लिखकर मैंने साम्प्रदायिक विद्वेष पर गहरी चोट लगायी है। चारों सिक्ख दोस्तों ने विशेष रूप से मेरी कोशिश को सराहा, लेकिन राजेन्द्र सिंह बेदी ने दोस्ताना सलाह दी कि कहानी के 'मैं' अर्थात् बुरहानुद्दीन की ज़बानी सुनाये हुए कुछ गन्दे चुटकुलों को (जो सचमुच काफी गन्दे थे क्योंकि वे गन्दे और नीच दिमाग का प्रतिनिधित्व करते थे) निकाल दिया जाय जिससे कि किसी पढ़ने वाले को भी यह भ्रम न हो सके कि कहानीकार उन्हें बयान करके आनन्द लेना चाहता है। (यह सलाह उचित

थी और अगले ही दिन मैंने कहानी के उन अंशों को काट दिया।) बाक़ी दोस्तों ने सलाह दी कि कहानी पाकिस्तान में ज़रूर छपवायी जाय और काफी देर तक यह बहस होती रही कि पाकिस्तान का कोई पत्र इसे छापने का साहस कर सकेगा या नहीं।

श्रीनगर से जब मैं दिल्ली आया तो कृष्ण चन्द्र ने भी यह कहानी सुन कर इसे बहुत पसन्द किया, बल्कि उन अंशों को भी रखने पर ज़ोर दिया जो वेदी की सलाह से काट दिये गये थे। उसने कहा कि यह सब कोई तुम्हारी—अहमद अब्बास की—राय थोड़े ही है, यह तो एक साम्प्रदायिक मुस्लिमलीगी क्लर्क बुरहानुद्दीन के गन्दे और विकृत दिमाग की तस्वीर है। मैंने कहा, यह ठीक है, पर हर पढ़ने वाला कृष्ण-चन्द्र जितनी समझ-बूझ तो नहीं रखता, इसलिए इन अंशों को काट देना ही ठीक होगा।

फिर जब यह कहानी लाहौर की मशहूर प्रगतिशील उर्दू पत्रिका 'अदबे लतीफ' में छपी तो मुझे बड़ी खुशी हुई कि पाकिस्तान के प्रगतिशील लेखकों और सम्पादकों ने अपनी इन्सान-दोस्ती की परम्परा को बनाये रक्खा है क्योंकि वास्तव में 'सरदार जी' कहानी का मूल उद्देश्य साम्प्रदायिक और अंध विश्वासी मुसलमानों को उनके साम्प्रदायिक अंध विश्वास की तस्वीर दिखाना था। कहानी के छपते ही बहुत से लोगों ने मुझे और 'अदबे लतीफ' के सम्पादक को तारीफ के खत लिखे। चौधरी बरकत अली सम्पादक 'अदबे लतीफ' ने लाहौर से लिखा—"यह कहानी इस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानी है .. ..हमारे पास सैंकड़ों खत पहुँचे हैं, जिनमें इस कहानी को सराहा गया है। इन में हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सभी शामिल हैं।" फिर किसी से सुना कि इलाहाबाद की प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'माया' में भी यह कहानी छपी है।

एक कहानीकार के नाते मै सतुष्ट हो गया कि 'सरदार जी' कहानी लिखना बेकार नही गया। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनो देशो में कहानी छप गयी। समझदार लोगों ने इसे पसन्द किया। शायद इसे पढ कर दो-चार सौ साम्प्रदायिक मुसलमानों, हिन्दुओं और सिक्खों के दिलों में भरा हुआ जहर कम हो गया हो। मेरे दिमाग में 'सरदार जी' कहानी की कहानी पूर्ण हो गयी और मैं दूसरी कहानियों के बारे में सोचने लगा। पर मुझे क्या मालूम था कि इस कहानी की कहानी तो अभी शुरू भी नहीं हुई है।

पाकिस्तान से खबर आयी कि वहाँ के साम्प्रदायिक अखबार 'सरदार जी' कहानी और उसके 'इस्लाम दुश्मन' लेखक के खिलाफ लिख रहे हैं और 'अदबे-लतीफ़' के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करने की माँग कर रहे हैं। मुझे कोई अचरज न हुआ, बल्कि इतमीनान ही हुआ कि साम्प्रदायिकता चोट खाकर तिलमिला रही है। वार खाली नहीं गया।

फिर बम्बई के अपने कुछ सिक्ख दोस्तों से सुना कि किसी गुरुद्वारे में इस कहानी के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किया गया है। वहाँ 'अदबे-लतीफ' में से इस कहानी के शुरु के हिस्से को पढा गया और कहानी को बिना खतम किये फाड़ डाला गया। यह सुनकर आश्चर्य भी हुआ और दुख भी।

पर मेरे एक सिक्ख मित्र ने पूरी कहानी पढी थी और उसे पसन्द किया था। उन्होंने जब अपने पिता को कहानी पढायी तब उन्होंने गुरुद्वारे जाकर सबको समझाया कि कहानी सिक्खों के खिलाफ नहीं है, बल्कि साम्प्रदायिक मुसलमानो पर व्यग्य है, कहानी के असल उद्देश्य

को समझना चाहिए और दोस्त को दुश्मन न समझा जाय। मैंने समझा कि गलतफहमी दूर हो गयी और मैं एक बार फिर काश्मीर के सैनिक मोर्चे पर पहुँच गया जिसमें कि भारतीय सेना और काश्मीर के राष्ट्रीय मुसलमानों, हिन्दुओं और सिक्खों की सम्मिलित जद्दोजेहद के बारे में लेखों और रिपोर्टों का एक सिलसिला लिख सकूँ।

मेरी गैरहाजिरी में सारे भारत (और पाकिस्तान) में मेरे खिलाफ एक तूफान खड़ा हो गया जिसकी हल्की-सी प्रतिध्वनि अखबारों और चिट्ठियों के ज़रिये दूर काश्मीर में सुनायी पड़ती रही। लेकिन फिर भी मुझे इस तूफान की तेजी का पूरा अन्दाज़ा नहीं था।

७ अगस्त के अखबारों में अमृतसर का एक समाचार पढ कर मुझे पहली बार उस भयानक गलतफहमी का पता चला जो मेरे और मेरी कहानी 'सरदार जी' के बारे में फैल रही थी। सिक्खों की प्रतिनिधि संस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ने भारत के प्रधान मंत्री, यू० पी० के मुख्य मंत्री और दूसरे नेताओं को तार भेजे थे जिनमें लिखा गया था—

"इलाहाबाद की हिन्दी पत्रिका 'माया' के जुलाई अंक में किसी मुस्लिमलीगी ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'सरदार जी' के नाम से एक अत्यन्त उत्तेजनात्मक, अश्लील और गन्दा लेख लिखा है। इसे पढ कर सन्देह होता है कि यह पाकिस्तान के किसी गन्दे अखबार में छपा है या भारत की एक हिन्दी पत्रिका में, जिसका मालिक एक हिन्दू है। इस लेख के छपने से सिक्खों और हिन्दुओं में दुख और गुस्से की लहर दौड़ गयी है। हमारी माँग है कि उस पत्रिका को जब्त किया जाय और लेखक, सम्पादक और प्रकाशक को कठोर दंड दिया जाय, तभी हमारी घायल भावनाओं को संतोष हो सकता है।"

इस तार के दो शब्द पढ कर मैं चौंका—'मुस्लिमलीगी' और

'लेख'—एक राष्ट्रवादी और समाजवादी को 'मुस्लिमलीगी' कैसे कहा गया ? एक कहानी 'लेख' कैसे बन गयी ?

तब एक दम मुझे इस अजीबो-गरीब गलतफहमी की असलियत का अनुभव हुआ।

एक शब्द ने, केवल एक शब्द ने, यह सारा तूफान खड़ा कर दिया था। वह शब्द था 'मैं'।

'सरदार जी' कहानी प्रथम पुरुष में लिखी गयी है। कहानी अपने प्रधान चरित्र बुरहानुद्दीन की ज़बानी बयान की गयी है। लिखने का यह ढंग कोई अनोखा नहीं है। सैकड़ो, बल्कि हज़ारो वर्षो से उपन्यासकार और कथाकार यह ढग अपनाते आये हैं। अनेक कहानियों और उपन्यासों के नाम मेरे दिमाग में घूम गये जिनमें 'मैं' लेखक के लिए नहीं, बल्कि उसके रचे हुए पात्र के लिए प्रयोग किया गया है। डिकेन्ज के 'डेविड कॉपर फील्ड' से लेकर क़ाज़ी अब्दुल गफ्फार के 'लैला के खतूत' तक और शरत् चन्द्र चटर्जी के 'श्रीकान्त' से लेकर कृष्ण चन्द्र की कहानी 'एक तवायफ का खत . .' तक। लेकिन आज तक किसी ने डिकेन्ज को एक बच्चा, क़ाज़ी साहब को लैला नामक एक सुन्दरी, शरत् चन्द्र चटर्जी को एक सैलानी प्रेमी और कृष्ण चन्द्र को एक तवायफ न समझा, फिर अहमद अब्बास को मुस्लिमलीगी कैसे मान लिया गया ?

जोश और गुस्से में एक कहानी को लेख समझ लिया गया था। कहानी में कहानीकार एक खयाली दुनिया बसाता है। उसके कल्पित पात्र अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, नायक भी, खल-नायक भी, मानव-प्रेमी भी और नर-पिशाच भी, राष्ट्रवादी भी और राष्ट्रद्रोही भी। कोई लेखक अपने पात्रो के लिखे और कहे के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जाता, चाहे उस पात्र का बयान प्रथम पुरुष ही में किया गया हो।

वरना शेक्सपियर को फाँसी दे दी जाती और कृष्ण चन्द्र को लड़कियाँ बेचने और चकला चलाने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया जाता। लेकिन लेख का लेखक अपने निजी विचार और अनुभव व्यक्त करता है। उसका 'मैं' कोई कल्पित पात्र नहीं होता, वह स्वयं होता है।

मैं एक कमीना, अन्ध विश्वासी साम्प्रदायिक बन गया, क्योंकि 'सरदार जी' कहानी को कहानी की जगह लेख समझा गया। इस बुनियादी ग़लतफ़हमी, इस आधार भूत भ्रम अथवा मूर्खता के बाद मेरे अपराधी होने में क्या सन्देह रह गया ?

यह और बात है कि 'माया' में सिर्फ कहानियाँ छपती हैं, कोई लेख कभी नहीं छपता।

यह और बात है कि इस कहानी का 'मैं' यह भी लिखता है कि उसका नाम शेख बुरहानुद्दीन है, (ख्वाजा अहमद अब्बास नहीं है), कि वह दिल्ली के एक सरकारी दफ्तर में हेड क्लर्क है।

और अगर कहानी के 'मैं' की हर बात को अक्षरश सही माना गया तब फिर अन्त के इन शब्दों को भी सच समझना चाहिए था कि "यह सरदार जी नहीं मर रहे थे, मैं मर रहा था   पुराना मैं" और भला मुर्दों के खिलाफ भी कोई कानूनी कार्रवाई की जा सकती है ?

लेकिन तार के आखिर में लिखा था—"पत्रिका की प्रति आपको भेजी जा रही है।" और मैंने सोचा कि हो सकता है कुछ गैरज़िम्मेदार और जल्दबाज साम्प्रदायिक नेता लेखक को न जानने और व्यंग्यात्मक लेखन-शैली से अपरिचित होने के कारण भ्रम में पड़ सकते हैं, लेकिन प० जवाहर लाल नेहरू और प० गोविन्द वल्लभ पंत हरगिज़ धोखा नहीं खा सकते। वह कहानी को बिना पढे भी जान सकते हैं कि ज़िन्दगी भर का राष्ट्रवादी अहमद अब्बास अचानक साम्प्रदायिक नहीं बन सकता।

और इसके बाद तो विरोधी पत्रों, प्रस्तावों और भाषणों का तांता बँध गया। जिस अखबार को उठाओ, उसमें 'सरदार जी' और उसके लेखक के खिलाफ कुछ-न कुछ लिखा होता। 'माया' को जब्त करने की माँग होती, कानूनी कार्रवाई की धमकी होती। अहमद अब्बास पर न केवल मामला चलाने, बल्कि उसे मार डालने की शुभ सलाह भी दी गयी। काश्मीर तो ऐसे अखबार कम पहुँचते—पर दोस्तों के पत्रों द्वारा खबरें मिलती रहीं। ये सब लेख इसी बुनियादी गलत फहमी से उत्तेजित होकर लिखे गये थे कि किसी मुस्लिमलीगी अहमद अब्बास ने सिक्खों और हिन्दुओं की भावनाओं को चोट पहुँचाने के लिए एक लेख लिखा है। इसलिए मैंने उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

लेकिन इस प्रस्ताव और अखबारों में छपे मेरे और 'सरदार जी' कहानी के खिलाफ लेखों का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था। इसलिए मैंने २३ अगस्त, १६४८ को अँग्रेज़ी में एक लम्बा पत्र शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रधान को भेजा और उसकी नक़लें भारत सरकार के मन्त्रियों को, यू० पी० के प्रधान मन्त्री, गृह-मंत्री और गृह-सचिव तथा अन्य नेताओं और अखबारों को भेज दीं। उसमें मैंने विस्तार के साथ लिखा था —

(१) सरदार जी लेख नहीं, कहानी है।

(२) इसका उद्देश्य सिक्ख भाइयों का अपमान या उनकी भावनाओं को चोट पहुँचाना नहीं है, बल्कि इसके विपरीत कुछ साम्प्रदायिक मुसलमानों में सिक्खों के प्रति जो विद्वेष पाया जाता है, उन पर व्यंग्य करना था।

(३) कहानी के कल्पित पात्र या 'मैं' की ज़बानी जो कुछ कहा है, उसे लेखक के अपने विचार समझने के कारण इतनी बड़ी गलत-फ़हमी पैदा हुई है।

(४) अगर इस कहानी को पढने से कुछ सिक्ख भाइयों की भावनाओं को ग़लतफ़हमी के कारण ठेस लगी है तो मुझे बेहद अफ़सोस है, क्योंकि कहानी लिखने में मेरा उद्देश्य सरदार जी जैसे बहादुर और मानव प्रेमी सिक्खों के चरित्र की सराहना करना था।

(५) मैं न मुस्लिम लीगी हूँ, न कभी था। पन्द्रह वर्ष से मैं कांग्रेस का मेम्बर रहा हूँ और पाकिस्तानी विचारो का कट्टर विरोधी रहा हूँ। पाकिस्तान और मुस्लिमलीग के खिलाफ मैंने सैकडों लेख लिखे हैं, जो हिन्दुस्तान के दर्जनों अखबारों में छप चुके हैं।

(६) मुझे सिक्खों से न नफरत हो सकती है न कोई द्वेष। मेरे कुछ बहुत ही प्रिय दोस्त और साथी सिक्ख हैं। दगों में मेरे खानदान के कई आदमियों की जान उनके सिक्ख पड़ोसियों ने बचायी और इसी घटना से प्रभावित होकर यह कहानी लिखी गयी।

(७) पाकिस्तान के कट्टर साम्प्रदायिक अख़बार इसी कहानी के खिलाफ यह कहकर शोर मचा रहे हैं कि इस में मुस्लिमलीगी मुसलमानों को बुरा और सरदार जी को अच्छा दिखाया गया है।

यह खत भेजकर और इसी बहस के बारे में 'आजाद क़लम' और 'ब्लिट्ज' के अन्तिम पृष्ठ में लिख कर मुझे फिर इतमीनान हो गया कि अब यह गलतफ़हमी जरूर दूर हो जायगी और दूसरे पत्रकारों के साथ मैं काश्मीर रणक्षेत्र के विभिन्न मोर्चों के लिए रवाना हो गया। उन मोर्चों पर अनेक सिक्ख सैनिकों से भेंट हुई। एक नौजवान सिक्ख ने मुझसे सवाल किया कि तुमने राष्ट्रवादी होते हुए भी ऐसी कहानी क्यों लिखी? पर जब मैंने उसे कहानी सुनाई तो उसने कहा—"यह तो बड़ी अच्छी कहानी है। इस से तो सिक्खों को खुश होना चाहिए।" एक जगह कई सिक्ख अफ़सरों ने बताया कि सरदार गोपाल सिंह ने अपने अँग्रेज़ी अखबार में 'सरदार जी' और उसके लेखक की हिमायत में कई लेख

लिखे हैं। उन्होंने सिक्खों को राय दी थी कि इस कहानी के खिलाफ आन्दोलन बन्द कर देना चाहिए। उर्दू और हिन्दी के भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं में कहानी के पक्ष और विपक्ष में बहस छिड़ी हुई थी। जहाँ 'सरदार जी' और उसके लेखक को गालियाँ दी जा रही थीं, वहीं कहानी की तारीफ भी की जा रही थी। यह बात दूसरी है कि कहानी के पक्ष में लिखने वालों की बातों में ज्यादा जोर था। कॉंग्रेस के प्रसिद्ध नेता और यू० पी० के भूतपूर्व मन्त्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने अखबार 'सैनिक' में दो सम्पादकीय लिखकर कहानी की प्रशंसा की। उन्हों ने तो यहाँ तक लिखा :—

" . . . .हमारा दावा है कि अगर सरकार ने इस कहानी के सिलसिले में उसके लेखक या मासिक पत्रिका के सम्पादक और प्रकाशक पर मामला चलाया, तो उसी की अदालत में सरकार की ऐसी जग-हँसाई होगी कि जिस अधिकारी ने सरकार से इस कहानी के खिलाफ कदम उठवाया है, वह मुंह दिखाने-लायक न रहेगा. . . "

कई महीने बाद पालीवाल की भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई, लेकिन उस समय तो सरकार ने उन्हीं पत्रों की बात सुनी, जिन्होंने कहानी को पढ़े या समझे बिना ही कहानी का विरोध किया था, और 'सैनिक' 'कौमी आवाज़ ('नेशनल हेरल्ड' का उर्दू संस्करण) और 'लिबर्टीज' जैसे राष्ट्रवादी और कांग्रेसी अखबारों की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हुई।

जब मैं युद्ध-मोर्चों के दौरे से लौटा तो श्रीनगर में अखबारों-द्वारा पता चला कि पंजाब के मुख्य मन्त्री डा० गोपीचन्द भार्गव को यू० पी० के मुख्य मन्त्री पं० पंत ने विश्वास दिलाया है कि 'सरदारजी' कहानी के

लेखक और 'माया' के सम्पादक पर बहुत जल्द मामला चलाया जायगा। और फिर यू० पी० सरकार ने 'माया' के जुलाई अंक की सब प्रतियाँ जब्त कर लीं और धारा १५३ ए० और २९५-ए० के अन्तर्गत लेखक, 'माया' सम्पादक और प्रकाशक के विरुद्ध मामला चालू कर दिया। इन धाराओं में पहली धारा में सम्राट की प्रजा के दो सम्प्रदायों के बीच शत्रुता या घृणा के भाव फैलाने के प्रयास में दो वर्ष की कड़ी कैद हो सकती थी और दूसरी धारा में "जान बूझकर सम्राट की प्रजा के किसी सम्प्रदाय की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाने के अपराध में दो वर्ष कैद या जुर्माने, या कैद और जुर्माने दोनों की सज़ा दी जा सकती थी। मैं इन दोनों धाराओं को पढ़ कर चकित रह गया। क्या यू० पी० सरकार के क़ानूनी सलाहकारों की साहित्यिक सूझ-बूझ इतनी कम थी कि वे सचमुच यह समझते थे कि कहानी का उद्देश्य मुसलमानों और सिक्खों के बीच दुश्मनी और घृणा के भाव फैलाना है और यह कि मैंने 'जान बूझकर' किसी सम्प्रदाय के धार्मिक विश्वासों का अपमान किया है? कहानी के खुले हुए उद्देश्य और मेरी जिन्दगी भर के राजनैतिक विचारों को नज़रअन्दाज़ करके यदि यू० पी० सरकार ने मुझ पर यह बेबुनियाद इलज़ाम लगा कर मुक़दमा [illegible]ने का फैसला किया है, तब फिर सफाई पेश करने से क्या फायदा? [illegible] ऐसे औंधे और बेसिर पैर के इलज़ामों का जवाब देना ही मुझे [illegible]पना और अपनी पन्द्रह साल की राजनैतिक और पत्रकारिता की [illegible]ी का अपमान लगा। मैंने सोचा कि मैं कोई सफाई पेश न करूँगा [illegible]र मैजिस्ट्रेट से कह दूँगा कि अगर वह सचमुच समझता है कि मैंने ये अपराध किये हैं, तो मुझे कड़ी-से-कड़ी सज़ा दे दे। 'शहीद' बनने की इच्छा किसे नहीं होती। कई दिन तक मेरे दिल में यह ख्याल समाया रहा कि मैं सफाई से इनकार करके जेल चला जाऊँ ताकि

सरकार की 'समझदारी' और 'साहित्य-प्रेम' के जौहर दुनिया पर प्रकट हो जायँ।

लेकिन 'माया' के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक भी मेरे साथ ही फँसे थे, उन्हें अपने साथ जेल में घसीटने का मुझे कोई हक़ न था। इस के अतिरिक्त 'माया' कार्यालय में और मेरे पास श्रीनगर में, ऐसे प्रगतिशील और न्यायप्रिय हिन्दुओं और सिक्खों के पत्र आने लगे, जिन्होंने 'सरदार जी' को पढ़ा था और पसन्द किया था। कुछ समाचार पत्र भी हमारा साथ दे रहे थे। सफ़ाई न पेश करना उन सब के साथ अन्याय होता, इसीलिए मैंने सोचा कि जब तक ऐसे सिक्ख और हिन्दू मौजूद हैं, जिन्होंने न केवल कहानी को पसन्द किया, बल्कि ऐसी साम्प्रदायिक एकता बढ़ाने वाली कहानियाँ लिखने को उत्साहित कर रहे हैं, तब तक मुझे न किसी अदालत का डर है और न साम्प्रदायिक अख़बारों के प्रचार से घबराने की आवश्यकता है।

अब मैं बेचैनी से अदालती सम्मन का इन्तजार करने लगा और इलाहाबाद जाने के लिए बिस्तर बाँधना शुरू कर दिया।

उधर इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक मेरी हिमायत में खड़े हो रहे थे।

इस आन्दोलन के अगुआ मेरे प्रिय मित्र और उर्दू-हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उपेन्द्र नाथ 'अश्क' थे, जो उन्हीं दिनों इलाहाबाद पहुँचे थे। 'अश्क' क्षय के रोगी थे, परन्तु खतरनाक हद तक दौड़-धूप कर रहे थे कि उर्दू-हिन्दी के सब लिखने वाले मेरी हिमायत में खड़े हो जायँ। उनका खत बम्बई होता हुआ श्रीनगर पहुँचा। लिखा था :—

"कुछ ही दिन पहले यहाँ पहुँचा हूँ। अभी इलाज जारी है।

ए० पी० लेता हूँ, लेकिन पंचगनी में और ज्यादा दिन रहने की हिम्मत न होने के कारण इलाहाबाद आ गया हूँ, और अब यहीं रहने का इरादा है।

यहाँ आते ही मालूम हुआ कि तुम्हारी कहानी 'सरदार जी' पर रोक लगी है और सरकार तुम्हारे खिलाफ मुक़दमा चला रही है। हैरत होती है कि सरकार में कैसे-कैसे लोग भरे पड़े हैं। मेरा नाटक 'तूफ़ान से पहले' बम्बई में बैन (Ban) हो गया था, हालाँकि उसका मक़सद दगा-फसाद को मिटाना था। 'सरदार जी', जो मेरे ख्याल में दंगों पर लिखी जाने वाली तमाम कहानियों में सर्वश्रेष्ठ है, यू० पी० में बैन कर दी गयी है और दलील यह है कि सिक्खों के खिलाफ नफरत फैलाती है . . .

. . .बहर हाल यहाँ इस थोड़े अरसे में दो जलसे हो चुके हैं, एक प्रगतिशील लेखकों का और दूसरा साधारण साहित्यकारों और पत्रकारों का मेरी इच्छा है कि Writers Defence Committee स्थायी रूप में सारे हिन्दुस्तान में कायम की जाय। उसका स्थायी फंड हो, अपना वकील हो, जो न केवल उन हमलों का जवाब दे सके जो सरकार की तरफ से हों बल्कि उनका भी जो अखबारों के सम्पादकों और प्रकाशकों की तरफ से हों और इस शोषण (Exploitation) खतम कर सके।"

जिस जलसे का जिक्र 'अश्क' ने किया था, उसमें सरदार जी' कहानी को पढ़कर सुनाया गया था और कहानी सुनने के बाद जितने साहित्यकार वहाँ मौजूद थे, उन्होंने एक वक्तव्य निकाला था, जिसमें कहा गया था :—

"लेखकों और पत्रकारों की यह सभा इस बात पर घोर चिन्ता प्रकट करती है कि यू० पी० सरकार ने ख्वाजा अहमद अब्बास की

कहानी 'सरदार जी' को जब्त कर लिया है, जिसमें लेखक ने गहरी मानवीय भावनाओं का चित्रण किया है और बड़े सूक्ष्म व्यंग्य और सुन्दर कला का परिचय दिया है। सरकार का यह प्रयास अच्छे साहित्य और कला पर हमले के बराबर है और घोर साम्प्रदायिक शक्तियों के सामने पराजय स्वीकार करना है। . . . .कोई कारण नहीं कि सरकार ऐसी उच्च कोटि की कला के समझने में ग़लती करे। यह सभा इस बात की निन्दा करती है कि इस तरह देशी और राष्ट्रीय साहित्य और साहित्यकारों पर हमला किया जाय और सरकार से माँग करती है कि वह लेखक के विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई न करे × × × यह सभा देश के प्रत्येक भाषा के साहित्यकारों से प्रार्थना करती है कि वे अहमद अब्बास की हिमायत करें और यह सिद्ध करदें कि वे देश में साम्प्रदायिकता और राग-द्वेष को फूलने फलने नहीं देंगे।

इस वक्तव्य पर इलाहाबाद के हिन्दी और उर्दू के हर विचार के लेखकों और पत्रकारों के हस्ताक्षर थे। इन में पुराने भी थे और नये भी, 'प्रगतिशील' भी और 'अप्रगतिशील' भी। उर्दू के मशहूर शायर रघुपति सहाय 'फ़िराक़', हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी लेखक इलाचन्द्र जोशी तथा पहाड़ी, प्रसिद्ध समालोचक प्रकाश चन्द्र गुप्त आदि लगभग पैंतीस-चालीस हस्ताक्षर थे जिनमें शायद सिर्फ़ दो मुसलमानों के नाम थे। प्रसिद्ध कवियत्री श्रीमती महादेवी वर्मा बेचारी इस सम्बन्ध में बेहद दौड़-धूप कर रही थीं। कई प्रतिनिधि मण्डल यू० पी० सरकार के मन्त्रियों के पास ले जा चुकी थीं। अश्क और उनकी पत्नी श्रीमती कौशल्या भी इन प्रतिनिधि मण्डलों में जा चुके थे। एक सुरक्षा समिति बन चुकी थी, जिस के सभापति श्री इलाचन्द्र जोशी थे और संयुक्त मंत्री प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक और पत्रकार श्रीकृष्ण दास तथा भैरव प्रसाद गुप्त थे।

अश्क के पत्रों और अखबारों की रिपोर्टों से मालूम हुआ कि अपनी

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

लेखक विरादरी हर तरह से साहित्य और साहित्यकार की रक्षा के लिए खड़ी हो गयी है। विशेष रूप से इस बात की प्रसन्नता थी कि एक उर्दू लेखक की हिमायत में हिन्दी लेखकों ने कदम उठाया था। अब 'सरदार जी' का मामला सिर्फ मेरा या 'माया' का व्यक्तिगत मामला न रहा था, बल्कि लेखक-स्वतन्त्रता की मुहिम का मोर्चा बन गया था।

आखिर काश्मीर के प्रधान मन्त्री श्री शेख अब्दुल्ला द्वारा सम्मन आ ही पहुँचा और मैं २५ अक्टूबर १९४८ को अदालत में हाज़िरी के लिए इलाहाबाद पहुँच गया।

इस मामले के सिलसिले में मुझे दो महीने इलाहाबाद में रहना पड़ा। इसके लिए मुझे यू० पी० सरकार का आभारी होना चाहिए क्योंकि ये दिन बड़े सुन्दर ढंग से कटे। काज़िमी साहब और उनके घर-वालों की मेहमाननवाज़ी मैं कभी भूल नहीं सकता और न उस सहृदयता-पूर्ण दोस्ताना बर्ताव को जो इलाहाबाद के तमाम हिन्दी-उर्दू के लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने मेरे साथ किया। इस बीच मुझे हिन्दी लिपि सीखने और हिन्दी साहित्य के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला। श्री सुमित्रा नन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, पहाड़ी, राम प्रताप बहादुर, अज्ञेय आदि जैसे हिन्दी के कवियों और लेखकों से परिचय और विचार-विनिमय का मौका मिला।

सबसे मज़ेदार घटना यह थी कि काज़िमी साहब के बंगले पर, जहाँ ठहरा था, स्थानीय पुलिस ने दो कानस्टेबिल मेरी रक्षा के लिए नियुक्त कर दिये। मुझे यह देख आश्चर्य भी हुआ और कोफ्त भी, पर बाद में यह जान कर बड़ी हँसी आयी कि यह मेरे दोस्त रामानन्द सागर की कार्रवाई का फल है। सागर को जब यह मालूम हुआ कि मेरी कहानी

के कारण कुछ सिक्खों में उत्तेजना फैली है और फैलायी जा रही है तथा मुझे मारने की धमकियाँ भी दी जा रही हैं, तब उन्होंने परेशान होकर दर्जनों पत्र लिख डाले—प्रधान मंत्री नेहरू से लेकर शायद सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस तक के नाम। उन पत्रों में उन्होंने लिखा कि अहमद अब्बास की जान खतरे में है। स्वर्गीया श्रीमती नायडू को भी यह पत्र मिला। वे मुझे जानती थीं। उन्होंने शायद इलाहाबाद की पुलिस को लिखा और तुरन्त ही मेरी रक्षा के लिए पहरा लगा दिया गया। इसकी कोई जरूरत न थी और न मेरी जान को खतरा था। उन सिपाहियों को हुक्म था कि जहाँ भी मैं जाऊँ, मेरे साथ जायँ, मैं पहले ही दिन उनकी नजर बचा कर साइकिल पर सारे इलाहाबाद में अकेला घूम आया। मैंने विरोध भी किया, पर सरकारी हुक्म जो हो गया हो गया। जब तक मैं इलाहाबाद में रहा, यह 'ग़ैर ज़रूरी' पहरा भी लगा रहा।

हिन्दुस्तानी कानफ्रेन्स के सिलसिले में लखनऊ जाना हुआ, तो मैं श्रीमती सरोजिनी नायडू से मिला। उन्होंने कहानी सुनी, तो सरदार जी के बलिदान का वर्णन सुन कर उनकी आँखों में आँसू आ गये। कहानी सुन कर वे कुछ क्षण तक मौन रहीं, फिर मुस्करा कर अँग्रेजी में बोलीं—"कहानी बहुत अच्छी, प्रभावशाली है पर तू गधा है।" मैंने यह उपाधि देने का कारण पूछा, तो जवाब मिला—"भला तू आशा करता है कि इस देश में ऐसे सूक्ष्म व्यंग्य और साहित्यिक बारीकी को साधारण लोग समझ पायेंगे? विशेषकर ऐसे समय, जब साम्प्रदायिक विद्वेष इस हद तक बढ़ा हुआ है?"

मैंने पूछा—"कम-से-कम आप तो यह नहीं समझतीं कि मैं राष्ट्रीयता

का रास्ता छोड़कर साम्प्रदायिक और फसादी बन गया हूँ ?" वे हँस कर बोलीं—"ऐसा समझती तो तुझे घुमने देती। मैं तो पहले ही चकित थी कि तुझ पर ऐसा इल्ज़ाम कैसे लगाया गया।"

इधर मामला बड़ी ही मन्द गति में चल रहा था। पहली पेशी में माया प्रेम की तलाशी लेने वाले पुलिस अफसरों के अतिरिक्त एक सरकारी गवाह सरदार अवतार सिंह पेश हुए। उन्होंने जिरह में कहा कि 'सरदार जी' कहानी भी है और लेख भी। कहानी के द्वारा लेख लिखा गया है। बाद में यह भी स्वीकार कर लिया कि कहानी में जो बातें सिक्खों के बारे में लिखी गयी हैं, वह बुरहानुद्दीन ने कही हैं जो कहानी का एक कल्पित पात्र है . ।

दूसरी पेशी मे सरकारी गवाह न आ सके, इसलिए मामला स्थगित हो गया।

तीसरी पेशी के तीन सरकारी गवाह अदालत मे हाज़िर होने से पहले मुझसे मिले। तीनों बड़ी शिष्टता से मिले। उन्होंने कहा कि मेरे खिलाफ गवाही देने में कोई खुशी न होगी क्योंकि उन्होंने मेरा नाम राष्ट्रीय और प्रगतिवादी लेखक के रूप में सुना था। एक बूढे सरदार जी से, जो झाँसी से रात भर का सफर करके आये थे, देर तक मुकदमे को छोड़ घरेलू बातें होती रहीं। आखिर उन्होंने पूछा—"क्यों जी! यह कहानी तुमने कैसे लिखी ?" उनके स्वर मे शिकायत से अधिक ताज्जुब था। मैंने जवाब मे उन्हें पाकिस्तानी अखबार 'नवाये-वक्त' में अपने खिलाफ छपे लेख की कतरन उन्हें दी और कहा—"पहले यह पढ़ लीजिए कि पाकिस्तानी अखबार इस कहानी के बारे में क्या कहते हैं।"

उन्होंने उस लेख को ध्यान से पढ़ा। फिर मैंने उन्हें उस चिट्ठी की नकल पढ़ने को दी जो मैंने अमृतसर गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी

के सभापति को लिखी थी। वह भी उन्होंने ध्यान से पढ़ी और मुझे लगा कि वे मेरी दलीलों से किसी हद तक प्रभावित भी हुए हैं। फिर मैंने ज़बानी 'सरदार जी' कहानी लिखने का उद्देश्य बयान किया, व्यंग्यात्मक शैली का नुक्ता समझाया, अपने राजनैतिक जीवन और विचारों के बारे में कुछ कहा। इस पर उन्होंने 'नवाए-वक्त' की कतरन और मेरा पत्र लखनऊ ले जाकर अपनी कमेटी के सामने रखने और मेरी बातों को दोहराने की इच्छा प्रकट की। मैंने दोनों चीज़ें उन्हें दे दीं। थोड़ी देर बाद मामला पेश होने पर उन गवाहों ने सब एक अर्ज़ी दी कि मामला स्थगित किया जाय, ताकि उनकी कमेटी को मेरे बयान पर विचार करने का मौक़ा मिल सके।

अगली पेशी पर कोई सरकारी गवाह मौजूद न था।

इस बीच में सारे यू० पी० के साहित्यिक क्षेत्र में यह मामला एक स्थायी मज़ाक़ बन चुका था और जो कोई भी मुझे व्यक्तिगत रूप से जानता था या जिसने मेरे लेख पढ़े थे, वह सरकार की 'हिमाक़त' की चर्चा कर रहा था।

यू० पी० सरकार के एक बड़े अधिकारी ने मुझे बताया कि 'सरदार जी' कहानी के विरोध में पत्रों और प्रस्तावों का जो ढेर लगा था अब उतना ही बड़ा ढेर सारे देश से आये हुए उन पत्रों, प्रस्तावों और लेखों का है, जो मेरी और कहानी की हिमायत में प्राप्त हुए हैं।

आखिर एक रात को मेरे एक पत्रकार मित्र दौड़े हुए आये। लखनऊ से खबर आयी थी कि सरकार मामला वापस ले रही है।

कुछ दिन बाद श्री गोविन्द नारायण, सेक्रेटरी गृह विभाग यू० पी० सरकार, का खत मिला जिसमें लम्बी-चौड़ी व्याख्या के बाद सूचित किया गया था कि सरकार मुकदमा वापस ले रही है।

इस खत का दिलचस्प पहलू यह था कि मामला चलाने की सारी

जिम्मेदारी उन सिक्ख सस्थाओं पर डाली गयी थी, जिन्होंने कहानी का विरोध किया था। मानो सरकारी अधिकारियों पर अपनी समझ बूझ से काम लेने की कोई जिम्मेदारी नहीं थी। एक लेखक पर मुकदमा चलाया जाता है, उसे समाचार पत्रों में बदनाम किया जाता है, उसके गे महीने और कई हजार रुपये का खून कराने के बाद एक पत्र द्वारा उसे सूचित किया जाता है कि उसका 'असल उद्देश्य' अब सरकार पर प्रकट हो गया है और इसलिए मामला वापस लिया जाता है।

लेकिन यह वक्तव्य प्रेस को नहीं भेजा जाता और उन हजार अखबारों में से, जिन्होंने वह पहला वक्तव्य छापा था, सिवाय दो चार के कोई मुकदमा वापस लेने की खबर नहीं छापता।

किसी लेखक पर मुकदमा चले, यह सनसनी खेज खबर है!

उसको सम्मान के साथ बरी कर दिया जाय—इस खबर में किसी को क्या दिलचस्पी हो सकती है? और फिर भला सरकार क्यों अपनी भूल स्वीकार करने का विज्ञापन देती फिरे?

कहानी की कहानी खतम होने से पहले 'सरदार जी' कहानी भारत की लगभग सभी भाषाओं में प्रकाशित हुई। उर्दू, हिन्दी, गुजराती मराठी, तामिल, तेलगू, मलयालम, बगला के बारे में तो मुझे मालूम है।

भारत और पाकिस्तान के कोने-कोने में यह कहानी पढ़ी गयी और हजारों ने इसे पढ़ा और पसन्द किया। बहुतों ने इसके बारे में मुझे खत भी लिखे।

कितनी ही साहित्यिक पत्रिकाओं ने यह कहानी प्रकाशित करते हुए इसके बारे में नोट लिखे और इस मामले का हवाला दिया जो यू॰

पी० सरकार ने मुझ पर चलाया था। न किसी सम्पादक ने इस कहानी को उत्तेजना फैलाने वाली बताया और न किसी पाठक ने लेखक को साम्प्रदायिक कहा।

पाकिस्तान से कुछ नौजवानों ने 'सरदार जी' पढ़ कर मुझे खत लिखे कि इस कहानी ने उनके दिलों से सिक्खों के खिलाफ भरी हुई नफरत को निकाल दिया था।

एक नौजवान सिक्ख ने (जिसके कितने ही सम्बन्धी दंगों में मारे गये थे) मुझसे कहा कि यह कहानी पढ़ कर पहली बार उसका दिल नफरत के ज़हर से पाक हुआ है।

और इस तरह 'सरदार जी' कहानी के मुकदमे का फैसला सरकार की बनायी हुई अदालत में नहीं, बल्कि इन्सानों के दिलों और दिमाग़ों में हुआ।

यही वह अदालत है, जहाँ हर साहित्यकार और लेखक की साहित्यिक रचनाएँ पेश होती हैं और उनकी जाँच की जाती है—जहाँ वे रद्द की जाती हैं या पसन्द की जाती हैं।

यही वह अदालत है, जिसके सामने हम सिर झुकाते हैं।*



अब्बास

*क्योंकि 'सरदार जी' के शीर्षक के बारे में गलतफहमी फैलायी गयी थी, इसलिए अब इसे 'मेरी मौत' के शीर्षक में प्रकाशित किया जा रहा है। यह शब्द 'मेरी' एक कल्पित पात्र इकरामुद्दीन के साम्प्रदायिक द्वेष की मौत की तरफ संकेत करता है। पढ़ने वाले अभी से मेरी यानी अहमद अब्बास की फातिहा पढ़ने की जल्दी न करें।

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

कहते हैं जिसको इश्क

कई दोस्तों की जबानी यह शिकायत सुनने में आयी कि प्रगतिशील लेखकों की कहानियों में इश्को-मुहब्बत का पुट बहुत कम हो गया है। जो कहानी पढ़ो, वह खून, पसीने, शराब, कै और पीप से लथपथ नजर आती है। हर तरफ से अगर आहें, कराहें नहीं तो इन्कलाबी नारे जरूर सुनायी देते हैं। और तो और, कृष्णचन्द्र को भी "पूरे चाँद की रात" में किसी दिलकश प्रेम-दृश्य की बजाय "महालक्ष्मी का पुल" ही नजर आता है। इसमत का "रेशमी लिहाफ" "केडल कोर्ट" के नीचे बैठे मोची की गंदी गुदड़ी में बदल चुका है। और महेन्द्रनाथ ने भी "जिन्दगी चाँद-सी औरत के सिवा कुछ भी नहीं" वाले दृष्टिकोण से तौबा कर ली है।

उपेन्द्रनाथ अश्क भी गोरी मेमों के बारे में नहीं, "काले साहब" के बारे में लिख रहे हैं और हमारी बहन चन्द्रकिरण सौनरेक्सा तो कालिज की चन्द्रवदना-चंचल कुमारियों की बजाय लंगड़ी-लूली नाइनों

के बारे में लिखती हैं, जिनकी "जवान मिट्टी" में भी सुन्दरता और रोमान का रंग नहीं मिलता।

यद्यपि मैं खुद 'प्रगतिशील साहित्यकार' कहलाने का किसी तरह भी हकदार नहीं हूँ (क्योंकि 'प्रगतिशील' मुझे अप्रगतिवादी और जनता-विरोधी मानते हैं और साहित्यकार मुझे सिर्फ पत्रकार समझते हैं) फिर भी मैंने महसूस किया है कि यह शिकायत मुझ पर भी लागू होती है। मैं भी रोमान से दामन बचाने का दोषी हूँ। मेरी कहानियों में भी ढूँढे से दूर-दूर कोई प्रेमी या प्रेमिका नजर नहीं आते। सिर्फ एक बार रोमानी "चढाव" कलमबद्ध करने की कोशिश की थी, मगर अ-रोमानी "उतार" ने पढनेवालों का सब मजा किरकिरा कर दिया। और तो और, काश्मीर की सुन्दरता-भरी और प्रेम-पटी वादी में भी मुझे "केसर के फूल" लाल ही नजर आये . गाँधीजी, स्तालिनग्राड, एक बूढे सरदारजी, पाँच जुड़वाँ बच्चों की माँ—ऐसे ऊटपटांग विषयों में तो रोमानियत की बू-बास भी नहीं मिल सकती। "भारत माता के पाँच रूप" भी मुझे नजर आये तो पाँच निहायत रूखी बूढी औरतों में।

तो क्या साहित्यिकों की वर्तमान नसल इश्क और मुहब्बत से बिलकुल अनजान है? क्या हम लोगों ने कभी प्रेम नहीं किया या दूसरों को प्रेम करते नहीं देखा? वरना बात क्या है कि कभी-कभी ही किसी कहानी में पायल की झंकार, कोयल की पुकार, असफल प्रेमी की आहें और प्रेमिका की सिसकियाँ सुनायी देती हैं? मैंने इस सवाल पर काफी सोचा और इस नतीजे पर पहुँचा कि प्रगतिशील साहित्यकार सिर्फ सुस्ती के कारण प्रेम-कहानियों से कतराते रहे हैं।

बात यह है कि मजदूरों की हड़तालों, किसानों के मोर्चों और पुलिस की गोलीबारी के बारे में अखबारों में जो रिपोर्ट छपती रहती हैं, उन्हें पढकर और कुछ साम्यवादी नारों का फार्मूला लगाकर कहानी

लिख देना तो आसान है, मगर कल्पना पर जोर डालकर किसी प्रेम-कहानी की रचना करना टेढ़ी खीर है। शायर के शब्दों में—"मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा।"

यह सोचकर मैंने तय किया कि चाहे जितनी भी मेहनत करनी पड़े, कम-से-कम एक प्रेम-कहानी जरूर लिखूँगा ताकि और कुछ नहीं तो "सनद रहे और ववक्त जरूरत काम आये।"

ताली हमेशा दो हाथों से बजती है और इसी तरह इश्क और इश्क़िया कहानियाँ, दोनों के लिए एक प्रेमी और एक प्रेमिका की जरूरत होती है। प्रेमिका का सुन्दर होना जरूरी है और प्रेमी का कवि होना . .

इसलिए प्रेम-कहानी लिखने से पहले मैंने अपने हीरो और हीरोइन की सृष्टि की। हीरोइन के सुडौल जिस्म को दुनिया की सबसे नर्म मिट्टी से बनाया। उसकी आँखों को बंगाल का जादू दिया, रंगत काश्मीर से ली और अंगों का तनाव महाराष्ट्र से लिया। उसको पंजाब का स्वास्थ्य सौंपा और उसके बदन में बम्बई की मछेरिनों-जैसा लोच दिया। बालों को घुँघराला बनाया, भवों को कमान-जैसा। ओंठों में मिठास भरी और गाल पर एक मनमोहक तिल बनाया। आँखों में मस्ती, सीने में जवानी का उभार और चाल में अल्हड़पन—और इस बेदाग़ सुन्दरता को आशा का कवितामय नाम देकर मैंने साहित्यिक रचना के चमत्कार से अपनी हीरोइन में जान डाली और उसके कान में लैला-मजनूं, रोमियो-जूलियट, हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल और देवदास-पार्वती की प्रेम-गाथाओं के गीत गुनगुना दिये।

आशा के प्रेमी का काम करने के लिए मैंने एक नौजवान निर्मल कुमार की सृष्टि की। उसके बदन को मैंने मजबूती और सेहत सौंपी, किसी सुन्दरी को उठा लेने और अपने चौड़े-चकले सीने से लगा लेने

के लिए उसकी बाहों मे ताकत दी। उसकी छाती में एक धड़कता हुआ दिल रख दिया और उसके दिमाग को उमगो और अरमानो से भरपूर कर दिया। उसके हाथ में एक बाँसुरी दी और बाँसुरी को सगीत से शराबोर कर दिया।

आशा और निर्मल।

निर्मल और आशा।

संसार के ऐतिहासिक प्रेमियों के जोड़ो में यह जोड़ा मेरे दिमाग की पैदावार था। मैंने सोचा, मैं इन दो प्रेमियों के दिल की हर धड़कन को अपने शब्दों में ढालकर उनकी कहानी को अमर कर दूँगा। जिस तरह लैला-मजनू और हीर-राँझा का नाम आज तक लिया जाता है, उसी तरह मेरे निर्मल और आशा का नाम भी हमेशा-हमेशा दुनिया में अमर रहेगा। और यह सोचकर मैंने इन दोनों को एक-दूसरे से प्रेम करने के लिए अपनी कल्पना की दुनिया में आज़ाद छोड़ दिया।

(१)

पूरे चाँद की रात में मैंने उन दोनो की पहली मुलाकात करायी—पूरे चाँद की रात, जब चाँदनी सम्वेदनशील हृदय मे सोयी हुई मुहब्बत को गुदगुदाकर जगाती है। जवानी के चेहरे पर प्रकाश का पाउडर मलती है, सुन्दरता को चार चाँद लगा देती है और इश्क को मतवाला और मदहोश बना देती है। उस समय हवा में कविता घुली हुई होती है, जीवन की कड़वी असलीयतो पर चाँदनी की बारीक चादर पड़ जाती है और हर तरफ प्रेम के गीत गूँजते सुनायी देते हैं।

और उस रात जब मेरे निर्मल की बाँसुरी की तान हवा में गूँजी

और आशा उसके जादू-भरे अनदेखे तागे से खिंची हुई अपने घर से वाहर निकल आयी तो मुझे ऐसा लगा कि मेरी कला का क्रियात्मक उद्देश्य पूरा हो चुका है। अब कहानी ये दोनों खुद लिखेंगे। अब आशा निर्मल से पूछेगी—"मुसाफिर, तुम्हारी वाँसुरी किसे बुला रही है?" और निर्मल कहेगा—"तुम्हें, सुन्दरी! और किसे?" और इस परिचय के बाद प्रेम के वादे होंगे, एक-दूसरे की कस्में खायी जायँगी, जीवन-भर प्यार निभाने की शपथें ली जायँगी और जैसे-जैसे पूरे चाँद की रात ढलती जायगी, इन दोनों की अमर मुहब्बत ज़वान होती जायगी......

मगर आशा ने कहा—"अरे ओ, यह क्या वेवक्त की रागिनी छेड़ी है! सोने भी देगा या रात-भर वाँसुरी ही बजाता रहेगा?"

और निर्मल ने जवाब दिया—"चल-चल! बड़ी महारानी आयी कहीं की! देखती नहीं, प्रैक्टिस कर रहा हूँ।"

"प्रैक्टिस!" आशा ने अंग्रेजी का मुँह चिढाते हुए कहा—"वह क्या वला है?"

"अरी, अभ्यास कर रहा हूँ वाँसुरी बजाने का, नहीं तो बैंड में कैसे काम मिलेगा!"

बैंड का नाम सुनकर आशा की दिलचस्पी जाग उठी—"तुम बैंड बजाते हो! सचमुच?"

"बैंड नहीं बजाता, बैंड में वाँसुरी बजाता हूँ।"

"क्यों?"

"इसलिए कि पैसे मिलते हैं—सवा रुपया रोज़।"

"ढोल क्यों नहीं बजाते?"

"ढोल बजाने वाले को दो रुपये रोज़ मिलते हैं, इसलिए ढोल बैंड-मास्टर का साला बजाता है।"

मुझे क्रोध आ रहा था कि चाँदनी रात वेकार ढलती जा रही है

के लिए उसकी बाहों में ताकत दी। उसकी छाती में एक धड़कता हुआ दिल रख दिया और उसके दिमाग को उमगों और अरमानों से भरपूर कर दिया। उसके हाथ में एक बाँसुरी दी और बाँसुरी को संगीत से शराबोर कर दिया।

आशा और निर्मल।

निर्मल और आशा।

संसार के ऐतिहासिक प्रेमियों के जोड़ों में यह जोड़ा मेरे दिमाग की पैदावार था। मैंने सोचा, मैं इन दो प्रेमियों के दिल की हर धड़कन को अपने शब्दों में ढालकर उनकी कहानी को अमर कर दूँगा। जिस तरह लैला-मजनू और हीर-राँझा का नाम आज तक लिया जाता है, उसी तरह मेरे निर्मल और आशा का नाम भी हमेशा-हमेशा दुनिया में अमर रहेगा। और यह सोचकर मैंने इन दोनों को एक-दूसरे से प्रेम करने के लिए अपनी कल्पना की दुनिया में आज़ाद छोड़ दिया।

(१)

पूरे चाँद की रात में मैंने उन दोनों की पहली मुलाकात करायी—पूरे चाँद की रात, जब चाँदनी सम्वेदनशील हृदय में सोयी हुई मुहब्बत को गुदगुदाकर जगाती है। जवानी के चेहरे पर प्रकाश का पाउडर मलती है, सुन्दरता को चार चाँद लगा देती है और इश्क को मतवाला और मदहोश बना देती है। उस समय हवा में कविता घुली हुई होती है, जीवन की कड़वी असलीयतों पर चाँदनी की बारीक चादर पड़ जाती है और हर तरफ़ प्रेम के गीत गूँजते सुनायी देते हैं।

और उस रात जब मेरे निर्मल की बाँसुरी की तान हवा में गूँजी

और आशा उसके जादू-भरे अनदेखे तागे से खिंची हुई अपने घर से बाहर निकल आयी तो मुझे ऐसा लगा कि मेरी कला का क्रियात्मक उद्देश्य पूरा हो चुका है। अब कहानी ये दोनों खुद लिखेंगे। अब आशा निर्मल से पूछेगी—"मुसाफिर, तुम्हारी बाँसुरी किसे बुला रही है?" और निर्मल कहेगा—"तुम्हें, सुन्दरी! और किसे?" और इस परिचय के बाद प्रेम के वादे होंगे, एक-दूसरे की कसमें खायी जायँगी, जीवन-भर प्यार निभाने की शपथें ली जायँगी और जैसे-जैसे पूरे चाँद की रात ढलती जायगी, इन दोनों की अमर मुहब्बत ज़वान होती जायगी......

मगर आशा ने कहा—"अरे ओ, यह क्या बेवक्त की रागिनी छेड़ी है! सोने भी देगा या रात-भर बाँसुरी ही बजाता रहेगा?"

और निर्मल ने जवाब दिया—"चल-चल! बड़ी महारानी आयी कहीं की? देखती नहीं, प्रैक्टिस कर रहा हूँ।"

"प्रैक्टिस?" आशा ने अंग्रेजी का मुँह चिढाते हुए कहा—"वह क्या बला है?"

"अरी, अभ्यास कर रहा हूँ बाँसुरी बजाने का, नहीं तो बैंड में कैसे काम मिलेगा?"

बैंड का नाम सुनकर आशा की दिलचस्पी जाग उठी—"तुम बैंड बजाते हो? सचमुच?"

"वह नहीं बजाता, बैंड में बाँसुरी बजाता हूँ।"

"क्यों?"

"इसलिए कि पैसे मिलते हैं—सवा रुपया रोज।"

"ढोल क्यों नहीं बजाते?"

"ढोल बजाने वाले को दो रुपये रोज़ मिलते हैं, इसलिए ढोल बैंड-मास्टर का साला बजाता है।"

मुझे क्रोध आ रहा था कि चाँदनी रात बेकार ढलती जा रही है

और ये लोग प्रेम-भरी बातें करने की बजाय आने-पैसों का हिसाब लगा रहे हैं। मैंने संगीत के जादू से रोमानी वातावरण पैदा करने के लिए एक बार फिर बाँसुरी निर्मल के ओंठों से लगा दी और एक नयी फिल्मी धुन हवा में गूंज गयी।

आशा बोली—"मुझे यह बाँसुरी की रीं-रीं बिलकुल नहीं भाती।"

"फिर कौन-सा बाजा अच्छा लगता है? हारमोनियम?"

"ऊँ-हूँ!"

"फिर क्या? सारंगी? सितार?"

"ऊँ-हूँ! मुझे तो ग्रामोफोन अच्छा लगता है—जैसा हमारे बराबर के पड़ोसी थानेदार के घर में है। जो रिकार्ड जी चाहा, चढ़ा लिया।"

"यह नया थानेदार कैसा आदमी है?"

"अच्छा है बेचारा। जब माँगो, हमें अपना ग्रामोफोन बजाने को दे देता है। उसके पास रेडियो भी तो है।"

"पर थानेदार के पास इतना रुपया कहाँ से आया? तनख्वाह तो सौ सवा सौ ही मिलती होगी।"

"पर भगवान ऊपर की आमदनी भी तो देता है। तुम्हारे बैंड में ऊपर की आमदनी नहीं होती?"

"होती है। जब कभी किसी की शादी में जाते हैं तो कभी-कभी हर एक को चवन्नी-अठन्नी इनाम भी मिल जाती है.. तुम्हारी शादी हो चुकी है?"

".. ..." आशा ने जवाब नहीं दिया, शरमाकर सिर झुका लिया। मगर उस पर चाँदनी का जादू काम कर रहा था और उसका दिल न जाने क्यों ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था।

"नहीं हुई? तो अच्छी बात है।"

आशा ने सिर उठाकर शरारत से निर्मल की आँखों में आँखें

डालते हुए पूछा—"क्यों, अच्छा क्या है इसमें ?"

और मैंने सोचा—अब अच्छा मौका है निर्मल को अपने प्रेम का प्रदर्शन करने का।

मगर उसने जवाब दिया—"इसलिए कि जब तेरी शादी होगी और बारात में हमारा बैंड आयगा तो तेरा दूल्हा मुझे इनाम देगा। इससे ज्यादा अच्छी बात क्या हो सकती है।"

"चल हट!" आशा ने कहा और भागकर अपने घर लौट गयी।

जब निर्मल ने अपने दोस्तों से आशा का जिक्र किया तो उन्होंने कहा—"अबे दिमाग खराब हुआ है! उस लौंडिया के बाप को भी देखा है ? चावल की ब्लेक मार्केट में हजारों कमा रहा है। वह भला बैंड वाले से क्यों आशा की शादी करने लगा !"

"फिर जात-पांत का फर्क भी तो है। तुम ठहरे राजपूत और वह है बनिया—वह भी जैनी।"

"और हमसे पूछो तो बुड्ढा लौंडिया की बात कब की पक्की कर चुका है। मैंने तो सुना है, अगले महीने शादी भी होने वाली है।"

"किसके साथ ?"

"यह नया थानेदार जो आया है, उसके साथ।"

"पर वह तो रडुआ है और बालों में खिजाब लगाता है।"

"इससे क्या ? थानेदार तो है।"

निर्मल ने एक ठंडी साँस भरी और बाँसुरी मुँह से लगा कर "जिया बेकरार है, आयी बहार है" की लय बजाने लगा। मैंने सोचा, चलो अच्छा है। लैला-मजनू और हीर-राँझा की तरह मेरी इस प्रेम-कहानी का अंत भी ट्रेजेडी में होगा। और अगले महीने जब अपने बालों और मूँछों में खूब खिजाब लगाकर थानेदार दूल्हा बना और घोड़े पर चढ़, बारात साथ लेकर चला तो आगे-आगे बैंड "चल-चल रे नौजवान"

की धुन बजा रहा था और निर्मल रोज की तरह अपनी बाँसुरी बजाने में तन्मय था। उसके चेहरे पर निराशा के बादल छाये हुए थे और वह अपने विचारों में इतना खोया हुआ था कि "चल-चल रे नौजवान" से भटककर उसकी बाँसुरी से "आँधियाँ ग़म की यूँ चलीं, बाग़ उजड़के रह गया" की लय निकलने लगी। जब ओ्रॉगन बजाने वाले ने उसे टोका और पूछा—"अरे, निर्मल, क्या हो गया है तुझे आज?" तो वह बोला—"मैं बड़ा परेशान हूँ, यार। माँ बीमार है और डाक्टर ने नुसखा लिख दिया है महँगा। दवा आती है पौने दो की, और शाम को मिलेगा सिर्फ सवा रुपया। यही सोच रहा था कि बाकी आठ आने कहाँ से आयेंगे?"

पर मुझे विश्वास था कि निर्मल यह बात सिर्फ टालने के लिए कह रहा है। असल में उसका दिल टूटा हुआ है, आशा के ब्याह की वजह से। और जब बैंड-मास्टर ने धुन बदली तो मैंने सोचा, वाह-वाह, क्या क्लासिक ट्रैजेडी है कि प्रेमिका की बारात जा रही है और प्रेमी उस बारात में "झूम-झूम के नाचो आज, गाओ खुशी के गीत" की धुन पर बाँसुरी बजा रहा है।

फेरों के समय जब आशा लाल रेशमी साड़ी में लिपटी, जेवरों से लदी-फँदी मंडप के नीचे हवन-कुंड के पास लाकर बिठायी गयी तो मुझे विश्वास था कि वह निर्मल के असफल प्रेम को याद करके रो रही होगी। कौन जानता है, ज़हर खानेवाली होगी! घूँघट की वजह से ... तो दिखायी न देता था, मगर उसके मेंहदी लगे पैरों पर जब कुछ ... गिरीं तो इसके सिवा क्या सोचा जा सकता था कि ये टूटे हुए दिल के टुकड़े हैं, जो आँसुओं की शक्ल में टपक रहे हैं। पर जब उसकी एक सहेली ने मजाक करते हुए घूँघट उठाया तो देखा कि कपड़ों और जेवरों की गरमी के कारण आशा को सख्त पसीना आया हुआ है और ये

पसीने की बूँदे थीं, जो उसके माथे और गालो से टपक रही थीं। और मेरी हैरानी की हद न रही, जब उसने अपनी सहेली के कान में कहा —"अरी, मेरी यह अँगूठी तो देख, असली हीरा है, असली।"

औरतें तो सदा की बेवफा होती हैं, मैंने सोचा। इस आशा को देखो। वहाँ वह बेचारा निर्मल अपने टूटे हुए दिल को सम्हाले खून के आँसू रो रहा है और यह कम्बख्त इधर हीरे की अँगूठी पाकर फूली नहीं समा रही और यह नहीं समझती कि उसे कुछ सिक्को के लिए बूढे, बदसूरत आदमी के हाथ बेच दिया गया है।

फिर जब बाहर जाकर देखा कि दूसरे बैंडवालो के साथ निर्मल भी आराम से बैठा लड्डू खा रहा है—(वही लड्डू, जो आशा और थानेदार की शादी की खुशी में बँट रहे थे और जिनकी मिठास में निर्मल की मुहब्बत के लिए ज़हर-ही-जहर भरा था) तो मेरे अचम्भे का कोई ठिकाना न रहा। यही नहीं, बल्कि वह हसकर कह रहा था—"यार, लड्डू अच्छे हैं।" फिर मैंने सोचा कि शायद यह जहरीली मुस्कान हो— 'दिल रो रहा है, लब मुस्करा रहे हैं' उस तरह की क्लासिक दुखभरी कहानी। मगर अगले पल थानेदार फेरों से निबटकर अपनी खिजाब लगी मूँछों को ताव देता हुआ बाहर आया और बैंडवालों को आठ-आठ आने इनाम बाँटने लगा। जब निर्मल की बारी आयी तो मुझे आशा थी कि वह हरगिज अपने प्रेम के हत्यारे हाथों से भीख स्वीकार न करेगा। सम्भव है, पैसे फेंककर दूल्हे पर दे मारे। सम्भव है, कुछ ऐसे कड़वे जले-भुने शब्दों के साथ वापस कर दे, कि "जहाँ आप दुनिया की इतनी बड़ी दौलत समेटे लिये जा रहे हैं, वहाँ ये आठ आने भी आप ही रखिए।' लेकिन मुश्किल से एक सेकंड की हलकी-सी झिचझिचाहट के बाद निर्मल ने थानेदार के हाथ से चमकती हुई अठन्नी ले ली और सलाम करते हुए कहा, "भगवान आपका सुहाग कायम रखे,

थानेदार साहव !" और जब वह चला गया तो अपने एक दोस्त से बोला—"चलो भाई, अब माँ के लिए बाजार से दवा तो आ जायगी।"

मैंने सोचा, लानत हो इन घटिया प्रेमियों पर ! ये तो रोमियो-जूलियट और सोहनी-महिवाल की परम्पराओं पर चलना तो एक तरफ़, देवदास और पार्वती के क़दमों पर भी न चल सके और इसी पल मैंने अपनी कल्पना की तलवार से उन दोनों को खत्म कर दिया और एक नये निर्मल और नयी आशा को सिरज दिया।

(२)

इस बार मैंने निर्मल और आशा को बंगाल में जन्म दिया—सुनहला बंगाल ! टैगोर की जन्मभूमि ! संस्कृति, कला और साहित्य का पालना, जहाँ कविता बच्चों को घुट्टी में मिलती है, जहाँ धान के हरे-भरे खेतों में, चौड़े-चकले दरियाओं के किनारे और ताड़ के झुंडों में रोमान पलते और परवान चढ़ते हैं ! एक प्रेम-कहानी के लिए इससे अच्छा वातावरण भला और कहाँ हो सकता है ?

निर्मल और आशा एक ही गाँव में पैदा हुए, गाँव की गलियों में साथ-साथ खेल-कूदकर बड़े हुए। गाँव के दूसरे लड़के-लड़कियों के साथ मिलकर ज़मींदार के बाग में वे कच्चे-पक्के आम तोड़ते, फिर काई और कमल के फूलों से ढके हुए तालाब में उन्हें धोते और मज़े ले-लेकर खाते। कभी-कभी निर्मल आशा के हाथ से आधा चूसा हुआ आम छीनकर खुद चूसने लगता और फिर उसे आम की खटास में भी एक अजीब मज़ा आता—जैसे आशा की सारी मिठास ओठों द्वारा आम के रस में घुल गयी हो और वह शरारत-भरी कनखियों से

आशा की तरफ देखकर कहता है—"आशा, आम वहुत मीठा है न ?"

और आशा झेपकर एक कच्ची अँविया निर्मल की तरफ फेंक कर कहती—"जा रे, आमी की जानी ?" (जा रे, मै क्या जानूँ ?) मगर निर्मल आशा की शर्मीली निगाहों में प्यार का पैगाम पा लेता।

वडे यत्न से मैंने इस निष्कपट प्यार को सींचा, परवान चढाया, जवान किया। इस वार मैंने उन्हे एक ही जाति में पैदा किया था, गोत्र भी अलग-अलग थे ताकि इनकी मुहब्बत को शादी की मंजिल तक पहुँचने में कोई सामाजिक रुकावट सामने न आये। आशा के माँ-वाप निर्मल को पसन्द करते थे और निर्मल के माँ-वाप आशा को। व्याह की वात चल रही थी कि . ...

वर्षा की कमी से फसलें जल गयीं। रहा-सहा अनाज चोर-वाजारी के सेठों के गोदामों में पहुँच गया। किसानों के गहने-पाते, वर्तन-भाडे, यहाँ तक कि जमीनें भी महाजन के हाथों गिरवी हो गयीं। जव खाने को धान न रहे तो पत्तों, घास और जडों पर गुजारा करने लगे। जव हर किस्म की सब्जी सूख गयी तो सवने गाँव छोडकर शहर जाने का फैसला कर लिया।

मैंने सोचा, मुसीवत ही में प्रेम शिखर पर पहुँचता है। इस आड़े वक्त में निर्मल और आशा की मुहब्बत ही इनको सहारा देगी। भूख में, प्यास में, परदेश में—वे जहाँ और जिस हाल में होंगे, प्रेम का दीपक उनके जीवन को रोशन रखेगा।

मगर जव से काल पड़ा, निर्मल और आशा और उनके घर वालों के मेल-जोल में वह पहली सी वात न रही। पहले तो दिन-भर निर्मल वेचारा अपने घरवालों के लिए घास और पत्ते और जगली वेर तलाश करने न जाने कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरता। शाम को जव घर आता तो भूख और थकन मे इतना निढाल कि वस लेटते ही सो जाता।

मगर नींद भी ठीक तरह से न आती। भूखे पेट में आँतो का खिचाव सोने न देता। फिर भी कमज़ोरी के कारण बेहोशी-सी रहती। अजीब-अजीब सपने आते। सपने पहले भी आते थे—आशा के सपने ! मगर अब उसके सपनों में गर्म गर्म भात के पहाड नज़र आते, दूध की नदियाँ और रसगुल्लों के मीनार ! आशा न नज़र आती।

उन दिनों वे दोनों अकेले मिल भी जाते तो कोई ढग की बात न कर पाते।

"कहो, आशा, कैसी हो ?"

"अच्छी हूँ।"

"क्या खाते हैं तुम्हारे घर वाले आजकल ?"

"जो भी मिल जाता है।"

"सुना है तुमने, सब शहर जाने की बात कर रहे हैं ?"

"हाँ, और क्या हो सकता है।"

एक बार निर्मल की थकी हुई आँखों में एक पल के लिए एक पुरानी चमक जाग उठी और उसने आशा से कहा—"शहर साथ ही चलना। तुम थक जाओगी तो मैं पीठ पर चढा लूँगा।"

और आशा ने जवाब में वही वाक्य दुहराया—"जा रे, आमी की ज़ानी ?"

मगर इस बार इन शब्दों में कोई प्यार का सदेसा नहीं था सिर्फ एक अजीब थकी हुई निराशा थी—जैसे अब उसमें इतना सोचने की न ताक़त थी, न परवाह कि वह कब और कहाँ जायगी और किसके साथ ?

और अगले पल निर्मल की थकी आँखों में भी वह पुरानी चमक सो गयी और उसके पेट की चुभती हुई भूख फिर जाग उठी।

भूख का कारवाँ चल पड़ा शहर की तरफ।

गाँव छोड़ने के तीसरे दिन ही निर्मल की माँ चल बसी। बाप बूढ़ा और बीमार था—वह दूसरे गाँव वालों से पीछे रह गया और उसके साथ निर्मल भी। कई मील तक निर्मल बाप को पीठ पर लादकर चला। मगर एक रात को, जब उन्होंने पड़ाव किया और सोने के लिए लेटे तो निर्मल के भूखे पेट से अजीब-अजीब डरावने विचार उठकर उसके दिमाग में आने लगे। बाप बीमार है, उसने सोचा। आज नहीं तो कल यह जरूर मर जायगा। मैं इसे कहाँ-कहाँ लादे फिरूँगा? इसके कारण मैं काफिले से पिछड़ गया तो मेरी मौत भी निश्चित है। जैसे ही यह सो जायगा, मैं यहाँ से चल दूँगा, काफिले वालों से जा मिलूँगा। न जाने आशा किस हाल में है? भूख—बाप—धान—भात—

सवेरे जब उसकी आँख खुली तो उसने देखा कि उसका बाप मरा पड़ा है। आँखें अब तक खुली हुई थीं, जैसे अचम्भे से खुली-की-खुली ही रह गयी हों और अब वे मुर्दा आँखें आसमान को तक रही थीं। पर निर्मल को ऐसा लगा, जैसे वे उसे घूर रही हैं—हैरानी और अचम्भे और गुस्से और नफरत और प्यार से। और वह वहाँ से चल पड़ा, जितना तेज़ भी उसका भूखा शरीर घिसट सकता था—और उसने एक बार भी पीछे मुड़कर न देखा। भय और कमजोरी से उसके पैर डगमगा रहे थे।

काफिले वालों तक पहुँचने में उसे दो दिन लगे। इतनी देर में वह सिर्फ भूख का पुतला बनकर रह गया था। सारी जमीन उसकी कल्पना में एक शानदार गोल रोटी थी। कमज़ोरी अब इतनी हो गयी थी कि वह घिसट-घिसट कर ही चल सकता था। तीसरे दिन जब सामने सड़क के अगले मोड़ पर काफिला जाता नजर आ रहा था, निर्मल ने सड़क के किनारे एक नौजवान लड़की को मिट्टी और रेत में लथपथ पड़े हुए देखा। वह यह सोचकर ठहर गया कि शायद यह लड़की मर चुकी हो या कम-से-कम बेहोश हो और इसकी फटी हुई साड़ी के पल्लों में अब

तक कुछ दाने चावल के बचे हुए हों .

लड़की शायद मरी नहीं थी, क्योंकि उसके सपाट सीने मे अब भी कभी-कभी साँस की हल्की-सी लहर उठती थी—इतनी हल्की, जैसे तालाब की शान्त सतह पर हवा के झोंके से एक हल्की-सी लहर पड़ जाय। लड़की का सिर एक तरफ को ढलका हुआ था, उसकी मुट्ठियाँ जोर से भिंची हुई थीं, जैसे ऐंठन का दौरा पड़ा हो। निर्मल ने जल्दी-जल्दी से साड़ी के पल्लुओं को झाड़ा—खाने की कोई चीज़ कहीं बँधी हुई मिली। फिर इधर-उधर नज़र दौड़ायी कि शायद आसपास कुछ पड़ा हो, मगर वहाँ सिवाय सड़क के किनारे की धूल के और कुछ नहीं था—महीन रेतीली धूल, जो उस लड़की के उलझे हुए बालों में अटी हुई थी, जिसका पाउडर उसके पीले, सूखे, पिचके हुए, गालों पर लगा हुआ था। हँह, मरने दो इसे और चलो, निर्मल ने सोचा और उसके भूखे पेट की अतड़ियों ने याद दिलाया कि उसे फौरन कहीं न कहीं खाने की कोई चीज़ तलाश करनी चाहिए—चाहे वह किसी पेड़ के पत्ते ही क्यों न हों, घास ही क्यों न हो, कोई मरा हुआ पछी ही क्यों न हो! मगर जाते-जाते उसने घूमकर एक नज़र फिर उस बेहोश लड़की पर डाली। न जाने क्यों उसे ऐसा महसूस हुआ, जैसे उसने इस लड़की को पहले कहीं देखा हो। मगर कहाँ? उसे तो इस वक्त यह भी याद नहीं था कि इससे पहले उसने किसी लड़की को भी कहीं देखा है . फिर उसके दिमाग के परदे पर एक धुँधली-सी तस्वीर क्यों उभर रही थी? इतनी धुँधली कि वह उसे पहचान न सकता था। उसके कानों मे दूर से किसी जाने-पहचाने नाम की हल्की-हल्की गूंज क्यों सुनायी दे रही थी? जैसे किसी दूसरी दुनिया से कोई आवाजें दे रहा हो। और उसके अपने दिल की धड़कन क्यो तेज़ हो गयी थी? भूख की सख्ती से उसे फिर दिल का दौरा पड रहा था या इस लड़की से उसका अपना कोई सम्बन्ध था?

वह लड़की कौन है ? यह लड़की कौन है ? क्या मैंने पहले इसे कहीं देखा ? कहाँ ? कब ? कैसे ? धुँधले-धुँधले प्रश्न-चिन्ह उसके दिमाग में उभरते रहे, बनते रहे, मिटते रहे—मगर जल्द ही उसके भूखे पेट का बुनियादी प्रश्न-चिन्ह इन सब सवालों को समेटता हुआ उसकी चेतना पर, उसके दिल और दिमाग पर छा गया। और उस पल में सड़क के किनारे पड़ी हुई वह लड़की उसे इतनी ही अजनबी और बेकार और बेलाग लगी, जैसे सड़क के किनारे पड़े हुए पत्थर या वे सूखे हुए पेड़, जिनकी डालियों पर से हरियाली की आखिरी कोंपल भी नोच ली गयी थी। अपने बदन को घसीटता निर्मल फिर चल खड़ा हुआ ..

और मैं चिल्लाता ही रह गया—"अरे ओ निर्मल, तू कहाँ जा रहा है ? यह तेरी आशा है ! तेरी आशा, तेरी प्रियतमा, वही आशा, जिसको साथ लेकर तू जमींदार के बाग से कच्चे-पक्के आम तोड़कर लाता था और फिर तुम दोनो उन आमों को कमल के फूलों से ढके हुए तालाब में धोते थे और तू आशा के हाथ से आधा चूसा हुआ आम छीन कर खुद चूसने लगता था और फिर उस आम की खटास में भी तुझे एक अजीब मजा आता था—जैसे आशा की सारी मिठास ओंठों द्वारा आम के रस में घुल गयी हो . क्या तू इसे नहीं पहचानता ? क्या तूने अपना प्रेम, अपनी जवानी, अपने बचपन—सबको भुला दिया है ?"

मगर निर्मल ने कोई जवाब न दिया। वह धीरे-धीरे सीधा चलता रहा। मेरे आवाज देने पर भी वह न रुका। मै चिल्लाया, मगर उसने पीछे मुड़कर न देखा। मैंने चीखकर कहा—"मैं तुझे हुक्म देता हूँ कि ठहर जा, अपनी प्रियतमा को गोद मे उठा, इसके सूखे हुए ओंठों में अपने प्यार-भरे तवों से जान डाल, इसे कंधे पर उठाकर चल। इसके बिना तेरा जीवन बेकार है, इसलिए कि वह तेरी प्रियतमा है, तेरी जान है, तेरे दिल की धड़कन है, तेरे सपनों की रानी है अगर मरना ही है

तो तुम दोनों को एक-दूसरे की गोद में एक साथ मरना चाहिए ताकि तुम्हारी मौत भी अमर हो जाय—लैला-मजनू की तरह, शीरीं-फ़रहाद और सोहनी-महिवाल और हीर-रांझा की तरह.. ”

मगर निर्मल ने मेरी एक न सुनी। चावलों के कुछ दानों के पीछे अपनी प्रियतमा को छोड़कर, उसे भुलाकर, चला गया।

मैं फिर चिल्लाया, गुस्से से मेरी आवाज़ काँप रही थी—"निर्मल! तू मेरी सृष्टि है, मैं तेरा भगवान हूँ। मैंने तुझे अपनी कल्पना से पैदा किया है। तू मेरा हुक्म नहीं टाल सकता!"

मगर निर्मल ने अपने भगवान की पुकार भी न सुनी और उसे रोकने के लिए मुझे उसके पीछे दौड़ना पड़ा।

जब मैं हाँपता-काँपता उसके पास पहुँचा तो निर्मल मोटर में बैठे हुए कुछ सफेदपोश आदमियों से भीख माँग रहा था—

"बाबूजी, ज़रा-सा भात दे दो, नहीं तो मर जाऊँगा!"

यह देखकर मैं गुस्से और नफरत और शर्म से काँप उठा। मेरा पैदा किया हुआ इन्सान और दूसरों के सामने हाथ फैलाये! क्या मैंने उसके दिल में स्वाभिमान और खुद्दारी के क़ीमती तत्व नहीं रखे थे? मैंने डाँटकर कहा—"निर्मल! तुझे शर्म नहीं आती? चावल के कुछ दानों के लिए भीख माँग रहा है! कहाँ है तेरा आत्माभिमान?"

निर्मल ने मेरी तरफ़ मुड़कर नहीं देखा, मगर उसकी गिड़गिड़ाहट में मेरे सवाल का जवाब भी था।

"बाबा! दया करो—पांच दिन का भूखा हूँ!"

और मैंने डाँटकर कहा—"भूखा है तो क्या हुआ? एक बहादुर और स्वाभिमानी इन्सान की तरह जान दे दे, मगर भीख मत माँग! भूख तेरे आत्मसम्मान, तेरी इज्जत और तेरी महान् मनुष्यता को नहीं कुचल सकती!"

और इस बार फिर उसकी गिड़गिड़ाती हुई आवाज़ में मेरा जवाब भी था—"भूख बड़ी बला है, बाबा!"

मोटर में बैठे हुए आदमियों ने एक थैले में से एक सूखी हुई डबल-रोटी निकाली और निर्मल को दे दी। उसको पाते ही निर्मल की बुझी हुई आँखों में जिन्दगी आ गयी। उसने रोटी को कई बार छूकर, दबाकर, सूँघकर देखा, जैसे विश्वास करना चाहता हो कि यह सचमुच खाने की डबल रोटी है, रास्ते का पत्थर नहीं है जिसे उसकी भूखी कल्पना ने डबलरोटी की शक्ल दे दी है। फिर भी यकीन नहीं आया तो एक भूखे कुत्ते की तरह उसने दाँतों से एक बड़ा-सा टुकड़ा तोड़ा और उसे जल्दी-जल्दी चबाकर देखा। तब जाकर उसे विश्वास हुआ कि वह सचमुच डबल रोटी है। फिर एकाएक वह औंधे मुँह जमीन पर गिर पड़ा। उसे यों नत-मस्तक होते देख, मोटर वाले खिलखिलाकर हँस पड़े और मै शर्म से पानी-पानी हो गया कि मेरा इन्सान, जिसे मैंने भगवान से टक्कर लेने के लिए पैदा किया था, आज दूसरे इन्सान के सामने कीड़ों की तरह रेंग रहा है।

और फिर मोटरवालो में से चेचक के दाग वाले एक मोटे आदमी की भैंगी आँखो में एक अजीब चमक पैदा हुई और उसने निर्मल को इशारे से पास बुलाकर कहा—"एक बात तो बताओ?"

निर्मल रोटी चबाते हुए बोला—"जो कहो, बाबू। तुमने मेरी जान बचायी है। मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

भैंगी आँखो वाले ने इधर-उधर नजर दौड़ायी और सड़क को सुनसान पाकर निर्मल से पूछा—"कोई काम की लड़की देखी है आस-पास? ज़रा जवान-सी?"

और इससे पहले कि मैं उसे चिल्लाकर सावधान कर सकूँ, निर्मल का जवाब उसकी जबान से निकल चुका था—"हाँ, बाबूजी, एक देखी

तो है. . . .पीछे, कोई मील भर परे, सड़क के किनारे पड़ी है—बेहोश, पर जल्दी करो, कहीं मर न जाय ।"

और पलक झपकते वह मोटर गर्द उड़ाती हुई गायब हो गयी।

अब तो मैं गुस्से के मारे आपे से बाहर हो गया — 'ओ नीच आदमी ! मुझे शर्म आती है कि तू मेरी कल्पना से पैदा हुआ है। जानता है, ये लोग कौन हैं ? और क्यों जवान लड़कियों की तलाश में घूम रहे हैं ? जानता है, तूने क्या किया है ? सूखी हुई डबलरोटी के बदले तूने अपनी इज़्ज़त, आबरू और इन्सानियत बेच दी है . "

मगर निर्मल सूखी रोटी को चबाने में इतना व्यस्त था कि उसने मेरी बातों की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं दिया । हाँ, मैंने यह जरूर महसूस किया कि जैसे-जैसे रोटी उसके पिचके हुए पेट में जा रही थी और जैसे-जैसे उसकी सुकड़ी हुई, सोयी हुई अंतड़ियाँ फिर काम कर रही थीं, निर्मल की आँखों में से वह अमानुषिक पशुता दूर होती जा रही थी। उसकी चेतना से स्मृतियाँ इस तरह सिर उठा रही थीं जैसे कोई सुन्दरी अंगड़ाई लेकर कसमसाती हुई उठती है, जैसे उसकी आशा

आशा !

आशा ?

ओ भगवान ! आशा !

रोटी के आखिरी कौर के साथ एक भयानक विचार बिजली की तरह उसके दिमाग में कौंदा। "नहीं नहीं !" उसके दिल ने आवाज दी। "ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा कभी नहीं हो सकता ! कभी नहीं कभी नहीं "

वह मुड़कर पीछे-भागने वाला ही था कि उधर से वही मोटर लौटती हुई नज़र आयी—चार सफेदपोश आदमी और उनके साथ एक मिट्टी में सनी, चीथड़ों में लिपटी हुई जवान लड़की।

"आशा ! आशा !" वह चिल्लाया, जब मोटर उसके पास से गुजरी/। और वह उसके पीछे भागने लगा।

"क्या है ?" एक सफेदपोश ने उससे पूछा, जब वह हाँफता हुआ मोटर के पास पहुँचा। एक पल के लिए निर्मल कोई जवाब न दे सका।

लड़की को होश आ चुका था। वह एक सूखी हुई डबलरोटी का टुकड़ा चबा रही थी। उसका सारा ध्यान उस रोटी पर था। उसने आँख उठाकर भी उस भिखमंगे की तरफ न देखा, जो पागलों की तरह "आशा ! आशा !" चिल्लाता हुआ मोटर के पीछे दौड़ता आया था। और वह देखती भी क्यों ? उसका नाम आशा थोड़े ही था। उसका नाम था क्या ? उसका कोई नाम था भी ? उसे कुछ याद न था ..और न उसे कोई परवाह थी। उस समय उस रोटी के सिवा दुनिया की किसी चीज की उसे परवाह न थी।

"आशा !" निर्मल चिल्लाया—"मोटर से नीचे उतर आओ। ये बुरे लोग हैं, ये तुम्हें बेच डालेंगे। आओ, आशा, मेरे साथ आओ। हम दोनों इकट्ठे चलेंगे।"

लड़की ने एक क्षण के लिए निर्मल की तरफ देखा, मगर उसकी भूखी, बुझी हुई आँखों में पहचान की कोई चमक पैदा न हुई। फिर वह अपने बराबर वाले सफेदपोश की तरफ मुड़ी और उससे पूछा—"यह कौन है ?"

"तुम मुझे नहीं पहचानतीं ? आशा, तुम्हें क्या हो गया है ? मैं निर्मल हूँ, निर्मल। याद नहीं, हम दोनों एक ही गाँव में पैदा हुए ? याद नहीं, हम साथ ही तो खेला करते थे ? याद नहीं, हम इकट्ठे ही जमींदार के बाग मे आम तोड़कर लाते थे और उन्हें तालाब में धोकर चूसते थे। और जब मैं तुम्हारे हाथ से आधा चूसा हुआ आम छीनकर

खुद चूसने लगता . ?"

लड़की ने कहा—एक अजीब मरी हुई आवाज़ में, जैसे वह उसकी आवाज न हो—"जा रे आमी की जानी ?" और मोटर धूल उड़ाती हुई गायब हो गयी।

(३)

पलक झपकते में मेरी कल्पना ने उन दोनों को नष्ट कर दिया। भला यह भी कोई इश्क हुआ ? मैंने सोचा, इस बार मैं निर्मल और आशा को ऐसे वातावरण में पैदा करूँगा, जहाँ वे प्रेम की परम्परा को पूरी तरह निभा सकें।

मैंने फैसला किया कि चूकि भूख प्रेम की हत्यारी है और 'पैसे बिना इश्क टैं-टैं' होता है, इसलिए इस बार निर्मल और आशा को ऐसे घरानों में पैदा किया जाय, जहाँ उनकी मुहब्बत को गरीबी और अकाल का शिकार न होना पडे। बल्कि उनकी मुहब्बत को परवान चढाने के लिए हर क़िस्म की आसानी और आराम मिले—यहाँ तक कि वे हर तरह की आर्थिक कठिनाइयों स आज़ाद होकर मुहब्बत और सिर्फ मुहब्बत पर अपना तमाम ध्यान दे सकें।

मैंने आशा को एक लखपति सेठ के यहाँ पैदा किया और निर्मल को दूसरे लखपति के यहाँ। निर्मल को आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी और पेरिस के नाचघरों और न्यूयार्क के नाइट-क्लबों में शिक्षा दिलवायी, आशा को नैनीताल के एक अँग्रेज़ी स्कूल, टैगोर के शांति-निकेतन और बम्बई के ताजमहल होटल के बाल-रूम में अपनी शिक्षा और व्यक्तित्व के विकास का अवसर दिया। फिर आशा को "उत्तम शिक्षा" के लिए

फ्रांस, स्विट्जरलैंड और इंग्लैंड की सैर को भेजा और वापसी सफर में इन दोनों की भेंट एअर-इंडिया इंटरनेशनल के एक हवाई जहाज में करायी।

लंदन से जब हवाई जहाज रवाना हुआ तो एक खूबसूरत लड़की को अकेला बैठे देखकर निर्मल मुस्कराया और कोई दूसरी सीट खाली न होने का बहाना करते हुए अपने बेहतरीन आधे ऑक्सफोर्ड, आधे अमरीकी लहजे में आशा से कहा—"अगर आप बुरा न मानें तो मैं आपके बराबर वाली सीट पर बैठ जाऊँ ?"

आशा ने एक नज़र निर्मल के पचास पौंड वाले बढिया सूट पर डाली और कहा— "हाँ, हाँ, क्यों नहीं, बड़े शौक से।"

"मेरा नाम निर्मलकुमार काराभाई है," निर्मल ने लैप-स्ट्रैप (Lap Strap) बाँधते हुए कहा।

"और मेरा नाम आशा आलूवाला है।"

'हौ डू यू डू, मिस आलूवाला। प्लीज्ड टु मीट यू।"

शेक-हैंड करते हुए आशा की नाजुक, नर्म और लाल पॉलिश किये हुए नाखुनवाली उंगलियों ने निर्मल के हाथ में जरूरत से ज्यादा गरमी और बेतकल्लुफी महसूस की। मगर 'सोसाइटी' में ऐसी बातों का 'नोटिस' नहीं लिया जाता। ऐसी बातों की शिक्षा पाने ही तो वह विलायत आयी थी।

"तो आप काराभाई काटन मिल्स वाले काराभाई हैं ?"

"जी हाँ। या यों समझ लीजिए कि मैं उनका छोटा बेटा हूँ। और आप तो निश्चित ही सेठ आलूवाला की सुपुत्री हैं ?"

"तो क्या आप पिताजी को जानते हैं ?"

'लीजिए, ऐसा भी कोई है जो हिन्दुस्तान के पोटेटो-किंग (Potato King) के नाम से परिचित न हो।"

थोड़ी देर खामोशी रही। हवाई जहाज लदन के एरोड्रोम को ही नहीं, इगलिश चैनल को भी काफी पीछे छोड आया था और अब फ्रान्स के हरे-भरे मैदान दूर नीचे नजर आ रहे थे। फिर निर्मल ने कहा :—"आप इडिया-हाउस की पार्टी में शायद नहीं आयीं, वरना पहले ही भेंट हो जाती।"

"जी, मैं उस वक्त स्विट्ज़रलैंड में थी।"

"कहाँ ? जेनीवा ?"

"जी नहीं, इंटरलाकेन।"

"बड़ी खूबसूरत जगह है। मुझे बहुत पसद है। मैं तो साल मे कम से कम दो सप्ताह इटरलाकेन में जरूर गुजारता हूँ।"

"इस साल तो आप नहीं आये ?"

"जी हाँ, इसी का अफसोस है। बात यह है कि अमरीका गया था सिर्फ तीन सप्ताह के लिए, मगर वहाँ दो सप्ताह और ठहरना पड़ा ....."

जेनीवा और रोम के बीच जब उनका हवाई जहाज इटली के पहाड़ एल्प्स के ऊपर से गुजर रहा था, निर्मल ने कहा—"सरदी बहुत हो गयी है। आप यह कम्बल टाँगों पर डाल लीजिए।"

"आपको भी तो सरदी लग रही होगी। आप भी लीजिए।"

नर्म कम्बल के नीचे उनके घुटने एक-दूसरे को 'आप से आप' छू गये और फिर अलग न हुए।

"अगर आपकी आँखों को यह लाइट बुरी लग रही हो तो बुझा दूँ ?"

हवाई जहाज के केबिन में एक मीठा अँधेरा छा गया और दूर नीचे बर्फ से ढकी हुई चोटियाँ चाँदनी रात में तैरते हुए बादलों से आँख-मिचौली खेलती रहीं।

न जाने कैसे, आशा का नर्म और नाजुक हाथ निर्मल के हाथ में पहुंच गया।

"यह कौन सी खुशबू है जो आपने बालो में लगायी है ?" निर्मल ने आशा के कान में कहा।

' मैने तो आज न बालों में तेल लगाया है और न कोई सेंट ही इस्तेमाल की है।"

"जभी खुशबू इतनी मस्त करने वाली है।"

"तो आप बिन पिये भी मस्त हो जाते हैं ?"

"हाँ, भगवान भला करे मोरारजी देसाई का—इस शराबबन्दी के जमाने में कम से कम इश्क के नशे पर अभी पाबंदी नही लगी।"

"............"

"आप बहुत शरीर हैं।"

"नहीं, यकीन मानिए, मैं बहुत शरीफ हूँ। मगर क्या करूँ, आप बहुत खूबसूरत हैं।"

जब हवाई जहाज रोम पहुँचा और केबिन में रोशनी की गयी तो दूसरे मुसाफिरो ने कनखियो से देखा कि आशा लिपस्टिक दुबारा लगाकर अपने 'मेक-अप' को ठीक कर रही है।

मुसाफिर उतरकर काफी पीने रेस्तोरा में गये तो मालूम हुआ कि मौसम खराब होने की वजह से जहाज आगे नहीं जायगा। रात उन्हें रोम के किसी होटल में गुजारनी पड़ेगी।

निर्मल पहले भी कई बार इस होटल में ठहर चुका था। मैनेजर उसे पहचानता था। आँख का सिर्फ एक इशारा ही काफी साबित हुआ और निर्मल और आशा को बराबर के कमरे दे दिये गये, जिनके बीच के दरवाजे की चिटखनी सिर्फ निर्मल की तरफ थी। अभी आशा ने रात के कपड़े बदले ही थे कि दरवाजा खुला और हाथ में शैम्पेन के

दो गिलास लिये निर्मल दाखिल हुआ।

"हैलो डार्लिंग !" सिर्फ दस घंटे में मिस आलूवाला से 'आशा' और 'आशा' से 'डार्लिंग !'

"हैलो !"

"मैने सोचा, सोने से पहले एक आखिरी जाम हो जाय। कल तो बम्बई जाकर फिर समुद्र का पानी ही पीना है।"

"मगर बस एक जाम। मैं ज्यादा नहीं पीती।"

"तुम्हारी सेहत को !"

"और यह तुम्हारी सेहत को !"

"और यह प्रेम की यादगार रात के नाम।"

और अगली रात को बम्बई पहुँचते-पहुँचते वे दोनों इश्क की तमाम मंजिलें तय कर चुके थे, जिन्हे पुराने जमाने के प्रेमी प्रेमिका बरसों मे भी तय न कर पाते थे। एअरपोर्ट पर जब वे अपनी-अपनी मोटरों में बैठने लगे, तो निर्मल ने कहा—"चीरियो आशा। जल्द मिलेंगे।"

और आशा ने कहा—"जरूर, जरूर। चीरियो निर्मल, फोन करना।"

मोटरें रवाना हो गयीं और मैने सोचा, यह है सच्चा इश्क ! न बकबक, न झकझक, बस इश्क। अब ये दोनों रोज एक-दूसरे से ताज मीन में, चाँदनी रात में जुहु के तट पर मिलेंगे, प्यार-मुहब्बत की करेंगे। उनके बीच न समाज कोई दीवार खडी कर सकेगा और न गरीबी और भूख उनको अलग कर सकेगी। उनका प्यार आज़ाद और इसलिए अटल और अमर है। यह प्रेम कहानी जरूर सफलता तक पहुँचेगी।

मगर आशा घर पहुँची तो उसका स्वागत करने के लिए उसके पिता जी, माता जी और भाई-बहनों के अलावा अधेड़ उम्र और गंजे

सिर वाले सेठ लालचन्द कमालचन्द भी थे जो पोटेटोकिंग के भागीदार थे। उन्होंने बड़े तपाक से आशा से हाथ मिलाया और उस हाथ के दबाव में भी आशा को किसी हद तक उसी बेतकल्लुफी का अंदाजा महसूस हुआ जो निर्मल के शेक-हैंड में था। मगर लालचन्द कमालचन्द के हाथ उम्र भर रुपये गिनते-गिनते सख्त और खुरदरे हो गये थे और उनकी चुभने वाली हड्डियों के दबाव में जवानी का इशारा नहीं था, बुढ़ापे की प्रार्थना थी।

अगले रोज आशा निर्मल के टेलीफोन का इन्तजार कर रही थी कि स्टाक-एक्सचेंज जाते जाते उस के पिता ने उससे कहा कि उस के सकुशल लौटने की खुशी में लालचन्द कमालचन्द ने ताज में सब घरवालों को दावत दी है। 'वह तुम्हें बहुत पसंद करता है आशा, और उम्र भी कोई खास ज्यादा नहीं है। मेरे ख्याल में तुम्हें उस के प्रस्ताव पर गौर करना चाहिए।'

आशा पिता के सामने चुप रही, मगर उसने सोचा–"हुँह, खूसट कहीं का! शक्ल तो देखो। कहाँ वह, और कहाँ निर्मल ?"

रात को ताज में जब डिनर के बाद वह सिर्फ अपने पिता को खुश करने के लिए लालचन्द कमालचन्द के साथ डांस करते हुए कोफ्त महसूस कर रही थी, निर्मल को आते देख कर उसका चेहरा एक दम खिल उठा।

"माफ कीजिएगा, एक दोस्त से मिल लूँ।" कह कर डांस खत्म होने से पहले ही वह अपने पार्टनर की बाहों से आजाद होकर नाचने वालों की भीड़ में से रास्ता चीरते हुए निकल गयी।

मगर मगर ..यह निर्मल के साथ कौन थी ?

"ओह, हैलो आशा। इनसे मिलो।"

एक अधेड़ उम्र की औरत, जो पेंट-पाउडर-लिपस्टिक, कसी हुई

चोली और रगे हुए बालों की मदद से जवान नजर आने की असफल कोशिश कर रही थी और जो निर्मल की कमर में इतनी बेतकल्लुफी और मालिकाना अंदाज़ से हाथ डाले हुए थी कि एक भयानक संदेह आशा के दिमाग़ में बिजली की तरह कौंद गया।

उस से हाथ मिलाते हुए उसने कहा—"बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर मिसेज काराभाई।"

वह औरत यह सुनकर हँस दी, असभ्यता से, खिलखिलाकर। कितने भद्दे दाँत थे उसके। "अपनी दोस्त की गल्ती तो देखो, डार्लिंग।" उसने निर्मल से कहा।

डार्लिंग! उसकी जबान से यह शब्द सुनकर आशा जल ही गयी।

"आशा, तुम्हें भूल हुई। यह फीफी हैं, मिसेज फटाका, मेरी बीवी नहीं।"

आशा ने फीफी फटाका के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था, मगर इससे पहले मिलने का अवसर नहीं मिला था। उसकी शादी जवानी में एक अधेड उम्र के अमीर आदमी से हो गयी थी। उसका पति अब भी जिन्दा था और पत्नी के सारे खर्च उठाता था, मगर कई बरस से उनका देह का रिश्ता टूट चुका था। दोनों अलग-अलग बंगलों में रहते थे। सेठ फटाका उम्र के आखिरी दिन कोकीन खा-खाकर गुजार रहा था और फीफी अपनी खोयी हुई जवानी की तलाश में सोसाइटी के नौजवानों का पीछा करती रहती थी। इन दोनों को साथ देखकर अब कोई शक बाकी न रहा कि निर्मल फीफी का सब से नया शिकार है। इस पल में आशा की न जाने कितनी आशाएँ और उमंगें चकनाचूर हो गयीं और जीवन में पहली बार वह जलकर असभ्यता से बोली—"माफ कीजिए, मिस्टर काराभाई, मगर मैं इन्हें आपकी बीवी नहीं, आपकी माता जी समझी थी।

और इससे पहले कि फीफी इस हमले का जवाब दे सके, आशा वहाँ से अपनी मेज पर वापस चली आयी। आर्केस्ट्रा ने एक और नाच की धुन शुरू कर दी थी—ओ माई डार्लिंग ! ओ माई डार्लिंग ! फीफी और निर्मल एक दूसरे की बाहो में झूलते हुए नाच रहे थे। निर्मल के अदाज़ में कुछ झुँझलाहट थी, मगर फीफी उससे चिपटी हुई थी, जैसे उसे डर हो कि कोई उससे निर्मल को छीनकर ले जायगा।

"निर्मल काराभाई को तुम जानती हो ?" आशा के पिता ने पूछा।

"जी हाँ, हवाई जहाज में भेंट हुई थी। बड़ा दिलचस्प आदमी है। बातें खूब करता है।"

"हाँ, अब तो बातें ही बना सकता है !" लालचद ने कहा।

"जी, क्या मतलब ? मै समझी नहीं।"

तब उसके पिता ने उसे बताया कि सेठ काराभाई ने अपने छोटे बेटे को उसकी फिजूलखर्ची और एयाशियों की वजह से अपनी जायदाद से बेदखल कर रखा है। पिता के मरने पर भी उसे फूटी कौडी नहीं मिलेगी।

"नहीं, यह कैसे हो सकता है ?" आशा बोली, "वह रहता तो बड़ी शान से है। हर साल विलायत जाता है। ये बढ़िया कपड़े, मोटर, यह सब कहाँ से आता है ?"

"कहाँ से आता है ?" लालचद ने अपने पीले दाँतो की नुमाइश करते हुए ये शब्द दुहराये और फिर ज़रूरत से ज्यादा झुककर आशा के कान में कहा—"बहुत से जरिए हैं। ब्रिज, फ्लाश, पोकर और फीफी फटाका !" और यह कह कर उसने अपने गजे सिर का इशारा हाल के उस कोने की तरफ़ किया, जहाँ निर्मल फीफी को रम्भा की चक्फेरियाँ दे रहा था और आर्केस्ट्रा के साथ आवाज मिला कर गा भी रहा था 'ओ माई डार्लिंग ! ओ माई डार्लिंग !"

आशा ने लालचंद से कहा—"मेरा जी मतला रहा है। शायद गरमी बहुत है। चलिए, बाहर की ठडी हवा मे कुछ देर टहल ले।"

कुछ दिन मे उन की "एन्गेजमेंट" का ऐलान हो गया। बड़ी शानदार पार्टी हुई। लालचन्द ने पच्चीस हजार की हीरों जड़ी अँगूठी अपनी मगेतर को उपहार में दी। निर्मल भी पार्टी में आया और एक मिनट के लिए आशा को अकेला पाकर कहने लगा--"मुबारक हो, आशा!" और उसके कान में धीरे-से—"जब कभी जरूरत हो, मुझे न भूलना।"

छः महीने वाद शादी हो गयी। मगर शादी की दावत में निर्मल न आया, क्योंकि वह फिर विलायत की सैर के लिए गया हुआ था। लालचद कमालचद ने भी हनीमून के लिए स्विट्जरलैंड जाना तय किया। वम्बई से काहिरा, वहाँ से रोम। रोम से कई नये मुसाफिर हवाई जहाज में चढ़े। मगर जब आशा और उसका पति रेस्तारा से लौटे तो सव अपनी-अपनी जगह बैठ चुके थे। आशा ने देखा कि अगली सीट पर, जो अब तक खाली थी, एक जोडा आकर बैठा है। एक मर्द और एक लड्की। मगर पीछे से शक्लें नजर न आती थीं।

अगली सीट से एक लड़की की आवाज आयी—"आप बहुत शरीर हैं—"

और फिर एक जानी-पहचानी आवाज—"नहीं, यकीन मानिए, मैं बहुत शरीफ हूँ। मगर क्या करूँ, आप बहुत खूबसूरत हैं!"

(४)

तीसरी वार फिर मुझे अपनी सृष्टि का नाश करना पड़ा। लानत हो इन प्रेमियों और प्रेमिकाओं पर! एक पल आपकी नजर चूकी और

ये लगे इश्क के शाही रास्ते को छोडकर जिन्दगी की टेढी-मेढ़ी पगडण्डियों पर भटकने। या शायद प्रेम को न गरीबी रास आती है और न बहुत अमीरी। इस बार मैंने अपने निर्मल और आशा को मध्यवर्ग में पैदा किया। निर्मल को एक दफ्तर में डेढ सौ का क्लर्क करा दिया, आशा को सिर्फ मैट्रिक तक शिक्षा दिलवायी।

इस बार निर्मल और आशा बम्बई की एक 'चाल' में दूसरे 'माले' पर रहते थे। शाम को जब निर्मल दफ्तर से थका-हारा लौटता तो दूर से ही बाल्कनी में आशा को खड़े देखकर उसके मन की कली खिल जाती। अब उसने शाम को सिनेमा जाना भी कम कर दिया था, कि परदे पर फिल्मी सितारों की परछाई देखने से आशा को असली रंग और रूप में देखना कहीं बेहतर था। उसे मालूम था कि आशा भी उसे पसंद करती है, वरना नियमित रूप से हर शाम को उसके दफ्तर से आने के समय अपने कमरे के सामने क्यों खडी रहती है? निर्मल अगर अपने कमरे में खड़े होकर दीवार से कहे कि आज तो घर में शक्कर ही नहीं, चाय कैसे पी जाय तो आशा फौरन अपने पिता से कहती—"दादा निर्मलराव के यहाँ शक्कर नहीं है, एक प्याली चाय भिजवा दूँ?" और उसका पिता, जो निर्मल को बहुत पसंद करता था, फौरन कहता—"हाँ, हाँ जरूर। मंजु से कहो, एक प्याली चाय दे आय।" और जब छोटी बहन प्याली लेकर चलती तो आशा खामखाह चिल्लाकर कहती— 'अरी मंजु! सम्हाल कर उठा, तू प्याली जरूर गिरा कर तोड़ेगी। ठहर, मुझे दे—"और फिर वह खुद प्याली लेकर जाती। और हर बार पहला घूँट पीकर निर्मल किसी फिल्म में सुना हुआ वाक्य जरूर दोहराता —"चाय बहुत मीठी है, आशा लगता है, तुमने अपने हाथ से बनायी है।"

और आशा झेंपकर वहाँ से चली आती और बहन से चिल्लाकर

कहती--निर्मलराव चाय पी लें तो प्याली ले आइयो। कहीं चाय के साथ हमारी प्याली भी हजम कर जायँ।"

मैट्रिक की परीक्षा पास आयी तो एक दिन उसके पिता ने निर्मल से ज़िक्र किया कि आशा इतिहास और भूगोल में ज़रा कमज़ोर है और मौका पाकर निर्मल ने कहा—"इतिहास और भूगोल तो बड़े ही आसान हैं। इन्हीं को लेकर तो मैंने बी० ए० किया था।" अब तो आशा के पिता को कहना पड़ा—"अगर तुम्हें बहुत तकलीफ न हो तो शाम को घंटा भर इसे पढ़ा दिया करो।"

और उस दिन से तो इन दोनों को रोज़ाना मिलने और बात करने का एक बाकायदा बहाना मिल गया। शुरू-शुरू में तो पढ़ाई के वक्त आशा की माता या उसके पिता की मौजूदगी जरूरी थी। मगर जल्द ही हिन्दुस्तान की खनिज पदार्थों की पैदावार और पानीपत की तीन लड़ाइयों के जिक्र से उन दोनों का जी उकता गया। इसके अलावा निर्मल का आचरण और रख-रखाव इतना सभ्य था कि पढ़ाई के वक्त किसी तीसरे की मौजूदगी ज़रूरी नहीं समझी गयी। इसके बाद यह स्वाभाविक था कि शाहजहाँ और मुमताज़ महल के ऐतिहासिक प्रेम में इन दोनों को व्यक्तिगत और अ-ऐतिहासिक दिलचस्पी पैदा होने लगे और जलवायु का जिक्र करते-करते बात दिलीप कुमार और कामिनी कौशल के नये फिल्म तक पहुँच जाय और बातों-बातों में गुरू चेले से यह भी कह जाय कि उसकी आँखें नर्गिस की आँखों से भी ज्यादा खूबसूरत हैं!

फिर एक दिन हिम्मत करके निर्मल बालों में लगाने को मोतिया के फूलों की वेणी ले आया। "पाँच रुपये का नोट भुनाना था, फूल वाले ने कहा—"बाबू जी, दो-चार आने का हार-गजरा लो तो छुट्टा दिये देता हूँ।" सो मैंने सोचा, तुम्हारे लिए एक वेणी ही ले चलूँ। तुम्हारे

जूडे में लगती भी तो बहुत खूबसूरत है !'' और आशा ने फूलो की लड़ी को अपने गालों से लगाते हुए कहा—"कितनी अच्छी खुशबू है इन फूलों में। रात-भर ये महकते रहेंगे।" निर्मल ने बिना कोई फिल्मी-सम्वाद सोचे कहा—"और तुम्हें मेरी याद दिलाते रहेंगे।" और उस दिन से निर्मल के लिए हर रोज़ ही पाँच रुपये का नोट भुनाना और चार आने की वेणी ख़रीदना ज़रूरी हो गया।

जिस दिन आशा की परीक्षा का फल निकला, आशा के पिता ने अकेले में निर्मल से कहा--"तुम्हारी मेहरबानी से आशा पास तो हो गयी है और वह भी सेकड क्लास में। अब तो उसके ब्याह की फिक्र है। सोचता हूँ, कोई अच्छा-सा वर मिल जाय तो ..." और फिर कुछ हिचकिचाते हुए—"तुम अपनी सुनाओ, निर्मल ? शादी-ब्याह के बारे में क्या इरादा है ?" और जब निर्मल सोच में पड़ गया तब—"तुम तो जानते ही हो कि आशा की माँ और मैं, दोनों तुम्हें कितना पसद करते है ..."

निर्मल ने कहा—"मैं इस इतवार को घर जा रहा हूँ। पिता जी से पूछ कर सोमवार को आपको जवाब दूँगा।"

और मैने सोचा, चलो इस बार तो निर्मल और आशा के इश्क की बेल मॅढे चढती नजर आती है।

निर्मल इतवार को अपने गाँव गया तो अपने पिता से ज़िक्र किया। वह पचास रुपये महावार पर स्कूल मे पढाता था। यह सुनकर वह सोच मे पड़ गया और फिर बोला "अच्छी बात है। मै दो दिन की छुट्टी लेकर शहर जाऊगा और लडकी के बाप से बातचीत करूँगा।"

निर्मल बम्बई वापस आया तो उसने देखा कि आशा ने होने वाले रिश्ते की वजह से उसके सामने आना और बात करना बन्द कर दिया है। शायद उसकी माँ ने मना कर दिया हो। मगर इस दूरी और अलहदगी

में भी कितनी मीठी, रूमान-भरी चाशनी थी ! कभी-कभार 'चाल' के बरामदे में अचानक उनकी मुठभेड़ हो भी जाती तो आशा के गाल लाज के मारे तमतमा उठते और वह उल्टे पैरों भागकर अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लेती और फिर किवाड़ के पीछे से निर्मल को झाँकती। और निर्मल ? वह तो अपने पिता के आने, शादी के तय होने और फिर शादी होने के दिन गिन रहा था ! कितना मीठा था यह इन्तज़ार !

निर्मल का पिता आया और आशा के घर वालों ने बड़े तपाक से उसका स्वागत किया। रस्मी बातचीत के बाद निर्मल के पिता ने बेटे को वहाँ से उठ जाने का इशारा कर दिया और दोनों पिताओं में, एकान्त में बातचीत होने लगी।

निर्मल के पिता ने पूछा कि आशा का पिता दामाद को दहेज में कितना रुपया देने को तैयार है ?

आशा के पिता ने ठंडी साँस भरकर कहा—"दहेज में तो हम सिवाय दो-चार कपड़ों और छोटे-मोटे जेवरों के कुछ भी न दे सकेंगे। फिर उसने अपनी आर्थिक कठिनाइयों का ज़िक्र किया। छोटी सी दुकान, वह भी आजकल के तंगी के ज़माने में। उस पर कन्ट्रोल की मुश्किलें। कठिनाई से इतने बड़े कुटम्ब का गुजारा होता है।

निर्मल के पिता ने कहा—"तब तो मुझे अफसोस है, यह रिश्ता न हो सकेगा। मेरी अपनी कुछ ऐसी ही मजबूरियाँ हैं।"

आशा, जो किवाड़ों के पीछे छुपी हुई यह सब सुन रही थी, धक से रह गयी। अब क्या होगा ? मगर नहीं, उसका निर्मल ज़रूर अपनी मुहब्बत को निभायेगा ! अपने पिता की तरह वह हरगिज़ रुपये का लालच न करेगा।

और रात को जब बाप-बेटे अकेले हुए और निर्मल को अपने

पिता का फैसला मालूम हुआ, तो उसने बेशक अपनी मुहब्बत निभाई। उसने पिता से साफ साफ कह दिया—"अब दहेज जैसे पुराने ढकोसलों को छोड़ दीजिए और रुपयों के लालच में दो जिन्दगियों को तबाह न कीजिए। क्या आपने शांताराम का फिल्म 'दहेज' नहीं देखा ?"

उसके पिता ने जवाब दिया—"फिल्म देखने के लिए मेरे पास फालतू पैसे कहाँ हैं ?" और फिर उसने बेटे को वह भेद की बात बतायी जो आजतक उसने छिपायी हुई थी। उसने साहूकार से दो हजार कर्ज ले रखा था, जो ब्याज मिलाकर अब तीन हजार के लगभग हो गया था। और उस कर्ज को उतारने का सिर्फ एक ही उपाय था—कि निर्मल का ब्याह किसी ऐसी जगह किया जाय जहाँ से दहेज में अच्छी रकम मिलने की आशा हो। "तुम बी० ए० हो, अच्छी नौकरी पर हो, तीन हजार तो मिलना ही चाहिए।"

"मगर पिता जी, इतना रुपया आपने कर्ज लिया किस लिए ?"

और बाप को कहना पड़ा—"तुम्हारी पढाई के लिए, निर्मल! और किस लिए ? वरना तुम बी० ए० किस तरह कर पाते ?"

यह सुनकर निर्मल के प्रेम की आग ठंडी पड गयी और उसे कहना पड़ा—"पिताजी, क्षमा करें। मगर मुझे यह सब मालूम न था।"

अगले महीने निर्मल की शादी उसके गाँव के सुनार की मोटी और अनपढ़ बेटी से हो गयी। न निर्मल ने ज़हर खाया, न आशा ने। दहेज में सिर्फ डेढ हजार की रक़म मिली, जो साहूकार को दे दी गयी। मगर बाक़ी रक़म और ब्याज मिलाकर दो हजार की रकम अब भी बाकी है। आशा की शादी एक गरीब मैट्रिक पास लड़के से हो गयी जो डाकखाने में पोस्टमैन है और जगह न मिलने की वजह से फिलहाल आशा के पिता के पास ही घरजमाई बनकर रहता है। निर्मल ने लाख कोशिश की कि

किसी दूसरी 'चाल' में 'खोली' मिल जाय, मगर अन्त में वह अपनी बीवी को इसी 'चाल' में लाने पर मजबूर हुआ। आशा और निर्मल की बीवी, दोनों में काफी दोस्ती हो गयी है और जब मर्द काम पर चले जाते हैं तो दोनों बैठी बातें करती रहती हैं—और अपने होने वाले बच्चों के लिए नन्हे-नन्हे कपड़े सीती रहती हैं

और इस बिलकुल गैर-रूमानी दृश्य को देखकर मुझे एक बार फिर अपनी सृष्टि को अपनी कल्पना की तलवार से कत्ल कर देना पड़ा।

(५)

अंतिम बार आशा और निर्मल की सृष्टि करने के बाद मैंने उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया—चाहे प्रेम करें या न करें। फिर मैं इन्हें बिलकुल भूल गया और अपनी कहानियों के लिए दूसरे पात्रों की सृष्टि करने में व्यस्त हो गया।

और फिर बरसों बाद मैंने एक बूढे आदमी और एक बूढ़ी औरत को बाज़ार में जाते देखा। आदमी के चेहरे पर झुर्रियाँ थीं और उसकी कमर झुकी हुई थी। औरत के सफेद बालों में मेहदी लगी हुई थी और उसके हाथ चक्की चलाने और मसाला पीसने से सख्त और खुरदरे हो गये थे। वे दोनों बाज़ार से राशन और तरकारी खरीदकर घर जा रहे थे। उनकी शक्लें काफी बदल चुकी थीं। कोई दूसरा होता तो कभी उनको न पहचान सकता। मगर मैं अपनी सृष्टि को कैसे भूल सकता हूँ? बूढे निर्मल के हाथ में एक थैला था जिसमें राशन के गेहूँ और चावल और तरकारियाँ भरी हुई थीं। थोडी दूर जाकर बूढी आशा ने कहा—"लाओ मुझे दे दो। तुम थक गये होगे।" यह कह उसने वह

थैला निर्मल के हाथ से ले लिया। और जब उन दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा तो उनकी आँखों में उस मोहब्बत की चमक थी जो सृष्टि करते समय मैंने उन दोनों को दी थी।

तो बुढ़ापे तक भी उनकी मुहब्बत मद्धिम नहीं हुई थी! यह था एक सच्ची प्रेम-कहानी का आदर्श क्लाईमेक्स! मगर पूरी कहानी क्या थी? वे दोनों कैसे मिले और कैसे उनकी मुहब्बत परवान चढ़ी? और किन-किन मुश्किलों और परेशानियों से उनको दो-चार होना पड़ा था? उनके प्रेम को कितनी परीक्षाएँ देनी पड़ी थीं?

ये सब मालूम करने के लिए मैं उनका पीछा करता हुआ गलियों-गलियों होता एक छोटे-से मकान पर पहुँचा। जैसे ही निर्मल और आशा दाखिल हुए, दर्जनों बच्चों ने चीं-चीं, पीं-पीं शुरू कर दी। बहुत देर तक किसी ने मेरी कुन्डी खटखटाने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। जब बच्चों का शोर कम हुआ, तब जाकर बुढ़िया ने कुन्डी खटखटाने की आवाज सुनी। 'अरे ओ गोपाल, मोहन, लल्लू, कोई देखो—दरवाजे पर कौन है?"

बच्चों के जलूस में मुझे उस टूटे हुए मोंढे तक ले जाया गया जिस पर बैठा बूढ़ा निर्मल खाँस रहा था। अपनी बूढ़ी, चुन्धी आँखों से मुझे घूरते हुए उसने कहा—"बैठो भाई, बैठो। चाय पियोगे?"

और बूढ़ी आशा अपने पति के सामने हुक्का रखते हुए बोली—"हाँ-हाँ, क्यों न पियेंगे। ये बाबू लोग तो दिन में दस-दस, बारह-बारह प्यालियाँ चाय की पी जाते हैं।"

"मैं आप दोनों से कुछ पूछना चाहता हूँ," मैंने कहा।

"हाँ हाँ, भाई, शौक से पूछो।"

"आप दोनों की शादी को कितने बरस हुए हैं?"

अपनी झुर्रियों के बावजूद आशा शरमा गयी, जब बूढ़े ने उसकी

तरफ़ मुड़कर कहा—"क्यों, राजो की अम्मा, कितने बरस हुए हैं? मुझे तो ऐसा लगता है जैसे कल ही की बात हो।"

"हाय, तुम्हें लाज नहीं आती! दस तो पोते-पोतियाँ हैं तुम्हारे।"

फिर बूढ़े ने कहा—"कोई चालीस बरस हुए होंगे, बाबूजी। मगर तुम्हें हमारी शादी की तारीख की क्योंकर फ़िक्र पड़ी?"

मैं कहना चाहता था कि मैं तुम्हारा सृष्टिकर्त्ता हूँ, इसलिए—मगर फिर मैंने कहा इतना ही—"मै कहानियाँ लिखता हूँ, इसलिए आप की ज़िन्दगी के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ।"

खू! खू! खू! हुक्का गुड़गुड़ाता, खाँसता और हँसता हुआ बूढा बोला—"हमारी भी कोई ज़िन्दगी है, बाबूजी? पैदा हुए, जवान हुए, मेहनत-मजदूरी की, शादी की, बच्चे पैदा किये। अब बच्चों के भी बच्चे हो गये—बस, मरना रह गया है!"

"नहीं, नहीं, मै यह बात नहीं, आपकी मुहब्बत के बारे में जानना चाहता हूँ। आप अपनी बीवी से पहली बार कैसे मिले? कैसे आपका प्रेम हुआ?"

बुढिया ने तो शर्म के मारे ओढनी सिर पर सरका ली और बूढा गुस्से के मारे मोंढा छोड़ कर खड़ा हो गया। "मुहब्बत! .प्रेम! ." वह खाँसता हुआ चिल्लाया—"यह क्या दिल्लगी है! हमारा मज़ाक़ उड़ाने आया है ...जानता नहीं, यहाँ शरीफ आदमी रहते हैं!" यह कहकर वह हुक्के की नली लेकर मुझे मारने वाला ही था कि मै वहाँ से भागा—और अब तक भागता चला आ रहा हूँ . इसलिए साँस फूला हुआ है। आप ही बताइए, प्रेम-कहानी लिखूँ, तो कैसे लिखूँ?

—o—

तीन औरतें

तीन औरते एक रेलवे लाइन के किनारे चली जा रही थीं। किस जगह ? किस रेलवे लाइन के किनारे ? उनकी जाति क्या थी ? उनका धर्म क्या था ? ये सब ब्योरे निरर्थक हैं।

तीन औरते।

एक युवा सुन्दरी थी। उसकी आँखो में चमक थी—उसके वक्ष में उभार था और उसकी चाल में यौवन-सुलभ-मस्ती।

एक माँ थी। उसकी गोद में एक बच्चा था। लाल-लाल बोटी सा सात दिन का बच्चा। बार-बार माँ अपने लाल की ओर प्यार-भरी नजर से देखती और उसको भींच कर कलेजे से लगा लेती, जैसे किसी आने वाले सकट से बचा रही है।

एक भिखारिन थी। उसकी धोती का रंग एक जमाने में जरूर सफेद रहा होगा, अब मिट्टी और पसीने से इतनी मैली हो गयी थी, जैसे वर्षो से कीचड़ में पड़ी रही हो। उसकी धोती किसी जमाने में पाँच-सात

गज़ की होगी। अब तो पल्लू फटते-फटते मुश्किल से तीन गज़ की रह गयी थी और तन ढाँपने के लिए भी काफी न थी। उसके ग्राम धूल से अटे हुए थे और नुकीले प थरो ने उसके पाँव घायल कर दिये थे।

तीन औरतें उस रेलवे लाइन के किनारे चली जा रही थीं।

तीन औरते ।

दूर जहाँ रेलवे लाइन की दोनों चमकती हुई पटड़ियाँ एक लम्बी लकीर बनकर क्षितिज में विलीन हो गयी थीं, एक छोटा सा काला बिन्दु दिखायी दिया और हवा के झोंके के साथ इंजन की सीटी की धीमी आवाज़ सुनायी दी।

सीटी की आवाज़ सुनते ही भिखारिन चौंकी। भय और त्रास के बदले उसके मुख पर एक भयानक निश्चय की झलक कौंध उठी। निमिष भर टकटकी लगाये वह क्षितिज की ओर देखती रही जहाँ छोटा सा काला बिन्दु नज़र आ रहा था। फिर वह जल्दी से एक पटड़ी फलांग कर दोनों पटड़ियों के मध्य चलने लगी।

युवा सुन्दरी और बच्चे की माँ, अपनी संगिनी के मुख पर उस भयानक निश्चय की झलक देखकर घबरा उठीं। जैसे ही भिखारिन छलाँग मारकर पटड़ियों के मध्य आयी, वे दोनों भी उसके साथ आ गयीं।

"आखिर तेरा इरादा क्या है ?" माँ ने भिखारिन के पूछा। पर उसके स्वर से मालूम होता था कि यह प्रश्न निरर्थक है।

"तू अच्छी तरह जानती है।" भिखारिन ने अन्यमनस्कता से उत्तर दिया और सामने क्षितिज की ओर दृष्टि जमाये देखती रही—अब वह छोटा सा काला बिन्दु इतना छोटा न रहा था।

"क्या पागल हो गयी है तू ?" युवा सुन्दरी ने ऐसे स्वर में कहा जिससे लगता था कि अचानक उसे बहुत बड़े संकट का आभास मिला है।

भिखारिन लम्बे-लम्बे डग बढाये चली जा रही थी और अन्य दोनों को इतना तेज चलना कठिन लग रहा था। फिर भी ये किसी न किसी तरह उसका साथ दिये जा रही थीं।

"पागल! और मैं ?" भिखारिन ने ऐसा भयानक ठहाका मारा कि युवा सुन्दरी और माँ दोनों डर गयीं। "पागल मैं हूँ या तुम, जो अब तक जिन्दगी से इंसाफ की आस लगाये बैठी हो। मैं पूछती हूँ, हम क्यों जिन्दा रहें ? इस जिन्दगी से मौत हजार दर्जे अच्छी होगी!"

लेकिन युवा सुन्दरी इतनी आसानी से बाजी हारने वाली न थी। "पर सोचो तो, मेरी जवानी का तो ख्याल करो। औरत जीवन भर में एक ही बार तो जवान होती है, जवानी में भी जीवन का आनन्द न लिया तो . ."

"जवानी " भिखारिन ने घोर उपेक्षा से बात काटते हुए कहा, "जवानी, वही जिसका मोल चार आने है, वही जवानी जिसको एक स्वार्थी पुरुष ने अपनी मीठी बातों से लूट कर तुम्हें ठोकरें खाने को छोड़ दिया, वही जवानी जिसे तुम प्रतिदिन बाजार में बेचने को विवश हो—हर पुलिस के सिपाही के हाथ, हर रेलवे बाबू के हाथ, हर आवारा शराबी के हाथ, जो चवन्नी तुम्हारे हाथ पर देता है! आख थू है ऐसी जवानी पर!"

अब माँ की बारी थी। उसने अपने बच्चे की ओर देखा और जैसे उसका सहारा पाकर भिखारिन से तर्क-वितर्क करने लगी। "पर मेरा बच्चा—इस बेचारे का क्या दोष है कि इसे मौत के हवाले कर दूँ ? इसी खातिर तो मुझे जिन्दा रहना ही होगा, फिर चाहे कितनी ही

विपत्तियाँ क्यों न झेलनी पड़े" और उसने अनायास बच्चे को छाती मे लगा लिया, "मेरा बच्चा !"

"मेरा बच्चा !" भिखारिन के स्वर मे ऐसा व्यंग्य, उपेक्षा और घृणा थी कि माँ चुप हो गयी। "अरे यह माँस का लोथड़ा, जिसे तू गले से चिमटाये फिरती है, यह ससार के अन्याय और समाज के अत्याचार का जीता जागता विज्ञापन तेरी तबाही और बरबादी का उत्तरदायी—आखिर यह बड़ा होकर क्या करेगा ? लाट साहब बनेगा या लखपती। इस देश में भिखमगों की कमी नहीं। क्यों न फेंक दिया तुमने इसको इसके बाप के दरवाजे पर, पालता वह कायर-कमीना अपने पाप की निशानी को !"

माँ तत्काल बोली "न, न, उन को कुछ मत कहो।" इस एक शब्द 'उन' में कुछ अजीब मुहब्बत, अजीब लगावट की चाशनी थी। इस शब्द को ओठों से निकालते समय माँ की आँखें नयी-नवेली दुल्हन की भांति लज्जा से झुक गयीं ! "उन को कुछ मत कहो। वे अपने माता-पिता के कारण विवश थे।"

भिखारिन क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गयी। छोटा सा काला बिन्दु अब बहुत बड़ा हो गया था और क्षण-क्षण निकट होता जा रहा था। रेल की गड़गड़ाहट मे भी ऊँची भिखारिन की आवाज सुनायी दी, 'माता-पिता के कारण या जायदाद के कारण ? और तुम्हारे माता-पिता की ममता कहाँ गयी, जब उन्होंने महावटों की काली रात में तुम्हें घर से बाहर निकाल दिया इस डर से कि तुम्हारा भेद खुलने पर समाज क्या कहेगा।"

यह कह कर भिखारिन सामने आने वाली रेल की ओर बेतहाशा लपकी और युवा सुन्दरी और माँ उसे रोकने के लिए साथ-साथ दौड़ीं।

किसी काले देव सरीखा इंजन पचास मील की गति से चला आ रहा था। एक भयानक सीटी की आवाज़ गूंजी किन्तु भिखारिन तनिक न झिझकी।

इंजन के पहिये उस की ओर लपक चले।

रेल के पहले दर्जे में दो बड़ी तोंद वाले व्यापारी लाखों के लेन-देन का सौदा कर रहे थे। उन के सामने शराब की बोतलें रखी हुई थीं और वे गिलास पर गिलास चढ़ा रहे थे, नशे में धुत्त और दुनिया के दुखों से बेखबर।

तीसरे दर्जे में भेड़-बकरियों की तरह गरीब और किसान और मजदूर भरे हुए थे। एक अंधा भिखारी तम्बूरा हाथ में लिये उन्हें भजन सुना रहा था। ये सब भी नशे में धुत्त थे और अपने दुखों से स्वयं बेखबर थे। एक बूढ़ा दार्शनिक एक ओर बैठा न जाने ऊँघ रहा था या अनसुलझी-गुत्थियों को सुलझा रहा था।

इंजन की सीटी भयानक रूप से कई बार गूंजी। उस की गूंज में संकट की घोषणा थी।

"रुक जाओ, रुक जाओ!" युवा सुन्दरी और माँ ने अन्तिम बार प्रयास करते हुए भिखारिन से कहा।

"मैंने निश्चय कर लिया है, तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो तुम हट जाओ।"

"पर तुम जान दे दोगी तो हमीं कैसे जीवित रह सकती हैं!" उन दोनों ने उत्तर दिया।

इंजन की भयानक सीटी एक बार फिर गूंजी। एकदम निकट।

युवा सुन्दरी भागते भागते बेदम हो गयी थी, पर उसने लपक कर

भिखारिन का आँचल थाम लिया और उसे मरने से बचाने का प्रयास किया। माँ ने एक हाथ से अपने बच्चे को सम्हाला और दूसरे हाथ से भिखारिन को रेल की पटरी से धक्का देकर हटाना चाहा।

पर इनकी कोशिशें व्यर्थ गयीं। इंजन इतना निकट आ गया था कि भिखारिन ड्राइवर की भयभीत आकृति देख सकती थी। उसने बरबस अपना आँचल युवा सुन्दरी और माँ के हाथ से छुड़ा लिया।

रेल के सहसा रुक जाने से जोर का झटका लगा। व्यापारियों का नशा हिरन हो गया। उनकी शराब की बोतलें और गिलास झन-झन करके फर्श पर जा रहे। तीसरे दर्जे में अन्धे भिखारी के हाथ से तंबूरा गिर गया और वह भजन गाना भूल गया। क्षण भर के लिए इस झटके ने गरीबों और मजदूरों और किसानों का नशा उतार दिया। यात्री अपने-अपने दर्जों से उतर आये और डिब्बों की ओर चले।

"क्या हुआ ? क्या हुआ !"

"कोई रेल के नीचे आ गया !"

"अरे यह तो कोई भिखारिन है !"

"पर सुन्दर और जवान !"

"और बेचारी का बच्चा भी तो मर गया"

"क्या हुआ क्या हुआ ? कौन मर गया ?"

"एक औरत रेल के नीचे आ गयी !

बूढ़ा दार्शनिक कुछ क्षण उस जवान भिखारिन और उसके बच्चे को देखता रहा, फिर बोला, "एक नहीं तीन औरतें !"

"तीन औरतें !" सब चकित से उस भिखारिन की ओर देखने लगे !

चिड़े-चिड़िया की कहानी

एक था चिड़ा, एक थी चिड़िया। चिड़ा लाया चावल का दाना, चिड़िया लायी दाल का दाना, दोनों ने मिल कर खिचड़ी पकायी।

खाने बैठे तो चिड़े ने खिचड़ी के निवाले का चोंगा चिड़िया के मुँह में दिया, चिड़िया ने शर्मा कर निवाला खा लिया और फिर उस ने अपनी चोंच में एक निवाला लेकर चिड़े की तरफ बढाया। चिड़े ने निवाला मुँह में लेने के बहाने से चिड़िया की चोंच को चूम लिया।

चिड़िया बोली—चूँ-चूँ-चूँ यानी यह चोचले तो मुझे नहीं भाते।

खा-पी, ईश्वर को धन्यवाद देकर दोनो अपने घोंसले में सो गये। सवेरे जब चिड़िया की आँखें खुलीं तो सूरज निकल चुका था, मगर जगल उदास और सुनसान मालूम होता था जैसे फिज़ा में एक अजीब भय छाया हो। चिड़िया ने सहम कर चिड़े को उठाया। वह आँखें मलता हुआ उठा "क्या मुश्किल है, दो घड़ी चैन से सोने भी नहीं देती!" मगर जल्दी ही जगल के गहरे सन्नाटे का अनुभव हो

गया। "बात क्या है? क्या सब चिड़ियों को साँप सूँघ गया है?"

"श. श श:," पड़ोसी के घोंसले से दबी हुई आवाज आयी, "धीरे बोलो, चिड़ीमार आया हुआ है।"

चिड़ीमार के भय से सारा जंगल सहमा हुआ था। हर परिन्दा अपने परों में सर छिपाये दुबका बैठा था।

"कैसा लगता है चिड़ीमार? बहुत भयानक होगा?" चिड़िया ने पड़ोसिन से पूछा। वहाँ से जवाब मिला, "हमने तो देखा नहीं, मगर जरूर भयानक ही होगा।"

"हू हू-हू," एक नव आगन्तुक उल्लू ऊपर की डाली से बोला—"यह सब तुम्हारा खयाल ही खयाल है। वह तो बड़ा धर्म-सेवक, सूर्यवंशी सम्राट है। चिड़ीमार नहीं है, चिड़ियों का मित्र है। उस ने हमारे लिए सोने के इतने सुन्दर पिंजरे बनवाये हैं कि तुम देखो तो आँखें चकाचौंध हो जायें।"

"पिंजरे!" चिड़े के दिमाग में जैसे खतरे की घण्टी बजी हो। "तो क्या अब हमें पिंजरे में रहना पड़ेगा! यानी कैद में गुलाम मनुष्यों की तरह!"

उल्लू बोला—"तुम तो कोई नास्तिक, अधर्मी, बागी मालूम होते हो। यह पिंजरे हमें कैद रखने के लिए नहीं, हमारी रक्षा के लिए बनाये गये हैं। जरा सोचो तो सही, इन तिनकों के घोंसले की बजाय सोने की तीलियों का पिंजरा रहने को मिलेगा। वहाँ तुम और तुम्हारे बच्चे बाज, चीलों, गिद्धों और उकाबों के आक्रमणों से सुरक्षित रहेंगे। इनमें से कोई पर न मार सकेगा। तुम इतमीनान की नींद सो सकोगे। बड़े से बड़ा और भयानक से भयानक परिन्दा भी तुम्हारे पिंजरे की तीलियों को न तोड़ सकेगा। अगर जंगल की आफतों से बचना है, अगर धर्म और शांति का जीवन बिताना है तो पत्तों के इन गन्दे

घोंसलो को छोड़ कर शानदार पिंजरों में आ जाओ।"

और उसी समय जैसे जादू हो गया हो। हर पेड की डालियो पर सुनहरे पिंजरे लटके नजर आये। मन्दिरो की तरह इन पर सोने के कलश जड़े हुए थे और उनकी दीवारें राजा-महाराजाओ के महलो की तरह सुनहरी थीं।

"जय सुनहरे पिंजरे की।" इन नारों से सारा जगल गूँज उठा और एक एक करके सब परिन्दे इन पिंजरों में आ गये।

चिड़े ने चिडिया की ओर देखा और चिडिया ने चिड़े की ओर। चिड़े ने कहा—"चूँ-चूँ-चू यानी जब सब ही पिंजरो में रहने को जा रहे हैं तो फिर हम ही क्या कर सकते हैं?" चिड़िया बोली—"चूँ-चूँ-चूँ यानी जैसी तुम्हारी इच्छा।" दोनों भी फुदक कर अपने सुनहरे पिंजरे में आ गये।

मगर यह पिंजरा वास्तव में सोने का नहीं था, केवल धर्म का सुनहरा मुलम्मा किया हुआ था। कुछ दिनों में ही मुलम्मा उतर गया और नीचे से लोहे की मजबूत और काली-काली सलाखें निकल आयीं।

चिड़ा लाया चावल का दाना, चिड़िया लायी दाल का दाना, दोनों ने मिल कर खिचडी पकायी तो एक सचमुच के सुनहरे पिंजरे में चढावा चढाया गया जिसमें भगवान की मूर्ति भी सब परिन्दों की भाँति बन्द थी और बाकी खिचड़ी चिड़ीमार के घर चली गयी। चिड़े-चिडिया के हिस्से में जरा-सी जली हुई खुरचन आयी। फिर भी दोनो ने कहा—भगवान तेरी कृपा है और भूखे पेट सो गये।

दिन गुज़रते गये। चिड़ा और चिड़िया दोनों प्रारम्भ में तो पिंजरे की कैद से दुखी रहे, परन्तु धीरे-धीरे उन्हें इसकी आदत पड़ गयी। और यद्यपि उन्हें उन्मुक्त आकाश में उड़ने का मौका नहीं मिला था और यद्यपि इनकी खिचड़ी का अधिकांश भाग भगवान की मूर्ति और चिड़ीमार की भेंट हो जाता था, फिर भी वे सोचते—कैद में हैं तो क्या है, सुरक्षित तो हैं। माना कि पिंजरे में रहते-रहते उनके बाज़ुओं और परों में उड़ने की शक्ति भी न रही थी, माना कि यह लोहे का पिंजरा बरसात में टपकता था, गर्मी में तपता था और सर्दी में कँपाने वाली हवाएँ इनकी तीलियों में से आती थीं और उनको अपने सीधे सादे मगर आरामदेह घोंसले की याद अक्सर सताती, मगर फिर वह पिंजरे का शानदार कलश देखते, जिस पर थोड़ा-सा सुनहरा मुलम्मा बाकी रह गया था। फिर उस सुनहरे शानदार पिंजरे की ओर देखते, जिसमें भगवान की सुनहरी मूर्ति बन्द थी और उस दयावान, न्याय-प्रिय चिड़ीमार का ख्याल करते, जो सुना था, एक महल में रहता है, जिसकी दीवारें हीरे-जवाहरात से जड़ी हुई हैं। और उनके हृदय गर्व से भर जाते और वह अपनी भूख और कैद को भूल कर उस सुनहरी संस्कृति और सभ्यता के बारे में सोचने लगते, जो इनके जंगल को दुनिया के दूसरे जंगलों में गौरवमय बनाती थी।

दिन गुज़रते गये। बरसात के बाद लोहे के पिंजरों पर ज़ंग लग गया। भगवान के सुनहरे पिंजरे की भी अब वह शान न रही। फिर सुना कि चिड़ीमार बदल गया और उनके लिए अब नये पिंजरे आयेंगे। वही चापलूस उल्लू फिर आया और सब परिन्दों को सम्बोधन करके कहने लगा, एक अजीब सी बोली में जो उसने हाल ही में सीखी थी, हाँ तो वह कहने लगा—

"बिरादराने वतन,

पुराना बेवकूफ और जालिम चिड़ीमार चला गया। अब हमारे जंगल पर एक ऐसे सुल्तान की हकूमत है, जो अल्लाह का प्यारा है। शाहंशाह ने हुक्म दिया है कि तमाम जंग लगे हुए पुराने पिंजरे फेंक दिये जायें। इनके बदले आप को रहने के लिए खालिस चाँदी के बने हुए पिंजरे मिलेंगे . . ."

और हर पेड़ की डालियों में चाँदी के चमकते हुए पिंजरे लटके दिखायी दिये। उनके ऊपर मन्दिरनुमा कलश की बजाय मसजिद नुमा गुम्बद थे और उनकी मजबूत सलाखें महराब की तरह मुड़ी हुई थीं।

"रुपहले पिंजरे जिन्दाबाद ! रुपहले पिंजरे जिन्दाबाद !!" चापलूस उल्लू ने नारा लगाया और सब परिन्दों ने उसका साथ दिया। सिवाय कुछ के बाकी सभी पुराने सुनहरे पिंजरों को छोड़ कर नये रुपहले पिंजरों में आ गये।

जिस पिंजरे में भगवान की मूर्ति रक्खी जाती थी, उसकी बजाय एक सुन्दर-सा चाँदी का पिंजरा लटका दिया गया, जो अन्दर से खाली था। कहते थे कि यह खुदा का घर है– मगर चिड़े-चिड़िया को वह खाली ही दिखायी देता था।

रुपहले पिंजरों का युग बहुत दिनों चला। इस जमाने में कुछ बहुत शानदार पिंजरे बनाये गये। सबसे खूबसूरत पिंजरा जो कई वर्ष की मेहनत से और कई करोड़ की लागत से बना, हाथी दाँत का बना हुआ था और उसमें जवाहरात की पच्चीकारी की गयी थी। इस पिंजरे में एक बहुत सुन्दर फाख्ता की लाश रक्खी गयी, जो अपनी जिन्दगी में चिड़ीमार को बहुत पसन्द थी। उसको सब कहते थे 'पिंजरों का सरताज'।

चिड़े-चिड़िया अब भी पिंजरों में कैद थे, मजहबी चाँदी का मुलम्मा उतरने के बाद पिंजरे की पोल खुल गयी थी, वास्तव में वही पुराना

लोहे का पिंजरा था, भेद केवल इतना हुआ था कि सोने की बजाए अब इस पर चाँदी का मुलम्मा हो गया था और कलश तोड़ कर उसका गुम्बद बना दिया गया था। खिचड़ी में से आधे से ज्यादा अब भी चिड़ीमार के कारिन्दे उठा कर ले जाते थे, मगर जब चाँदनी रातों में खूबसूरत फाख्ता के मकबरे वाला 'पिंजरों का सरताज' अपनी पूरी शान से चमकता तो हर परिन्दे का हृदय गर्व और खुशी से भर जाता। हाथी दाँत का यह अनोखा पिंजरा इनकी संस्कृति और सभ्यता का ऐसा सुन्दर नमूना था कि इस पर जितना भी नाज किया जाता, कम था।

समय गुजरता गया। रुपहले पिंजरों पर अब कुछ उदासी चमकने लगी। एक बार फिर सुना कि चिड़ीमार बदल गया और उनके लिए अब नये पिंजरे सात समुन्दर पार से आयेंगे। वही चापलूस उल्लू फिर आया और सब परिन्दों को एक विदेशी भाषा में सम्बोधित करके बोला—

"पीपुल्ज आफ बर्ड लैंड।

आपको यह सुन कर खुशी होगी कि उस पुराने चिड़ीमार का राज्य खत्म हो गया है। सात समुन्दर पार के एक न्याय-प्रिय और दयावान सम्राट ने सब परिन्दों को अपनी सुरक्षा में ले लिया है। आज से इस जगत में चिड़िया और उकाब एक ही घाट पानी पियेंगे। मेरा मतलब है एक ही पिंजरे में रहेंगे। इन पुराने फैशन के मुलम्मा किये हुए पिंजरों को भूल जाओ। आपके लिए विलायत से एलमोनियम के पिंजरे आये हैं ..।"

"थ्री चियर्ज फार एलमोनियम पिंजरे! हिप-हिप हुर्रे।"

नये पिंजरे वास्तव में देखने योग्य थे। पालिश किये हुए

एलमोनियम में शीशे की तरह चेहरा दिखायी दे, अन्दर बिजली के कुमकुमे लगे हुए, पर्दे लटके हुए। अण्डे रखने के लिए रेफ्रीजियेटर, परों को धोने और साफ रखने के लिए बिजली की मशीनें, सिंगार मेजें, चिड़िया की चोंच पर लगाने के लिए लिपस्टिक, चिड़े के सिर के बालों में लगाने के लिए बिलायती तेल, बिजली के बाजे जिसमें अत्यन्त सुरीली चूँ-चूँ चूँ सुनायी देती थी।

सब परिन्दे इन अनोखी चीजों को देख कर लोट-पोट हो गये। जब चिड़े ने कहा —"चूँ-चूँ-चूँ यानी अब जिन्दगी का मजा आयेगा।" चिड़िया ने कहा—"चूँ-चूँ-चूँ यानी यू सेड इट डार्लिङ्ग (You said it darling)।" मगर जब वह पुराने पिंजरों से निकल उन् नये पिंजरों में दाखिल होने लगे, तो वह शानदार पिंजरे आपसे आप परे हट गये (वह बढ़िया पिंजरे वास्तव में उल्लू और वैसे ही कुछ मनहूस परिन्दों के लिए थे।) इनकी जगह घटिया किस्म के पिंजरों ने ले ली। वह कलई किया हुआ एलमोनियम था, अन्दर बिजली की रोशनी की बजाय मिट्टी के तेल की लालटेनें। खैर फिर भी कुछ टीप-टाप थी ही। कुछ दिन तो लालटेनें और दियासलाइयों को ही ताज्जुब से देखते व्यतीत हो गये।

चिड़ा गया चावल का दाना लाने, चिड़िया गयी दाल का दाना लाने। मगर न उसे चावल का दाना मिला और न उसे दाल का दाना। मालूम हुआ कि सारे चावल और सारी दाल को सात समुन्दर पार भेज दिया गया है। अब खिचड़ी पके तो कैसे? ...घास, फूस, पत्ते खाकर किसी न किसी तरह गुजारा किया गया... . मगर कुछ दिनों के बाद कितने ही परिन्दे भूख से मरने लगे। इस पर नये परदेशी चिड़ीमार ने विदेशी भाषा में एक घोषणा निकाली कि इस जंगल के परिन्दे खाते ज्यादा हैं इसलिए इनका पेट फट कर मरना अनिवार्य है। इन परिन्दों को चाहिए कि कम खाया करें?

चिड़िया ने कहा–"चूँ-चूँ-चूँ यानी सुना तुमने !"

चिड़े ने कहा–' चूँ-चूँ चूँ यानी झूठे मक्कार कहीं के !'' मगर अब किया क्या जाय ?

"मैं बताता हूँ," इनके पड़ोसी ने अपने पिंजरे से आवाज दी, "हम चिडीमार को मजबूर करेंगे कि हमारी खिचड़ी हमें वापिस मिले। यही नहीं, बल्कि हम उसे पिंजरों के दरवाजे खोलने पर भी विवश कर सकते हैं।"

चिड़े ने कहा –"चूँ-चूँ-चू यानी कैसे मेरे भाई ? हमें भी समझाओ।"

पड़ोसी चिड़े ने कहा–"तमाम जगत की चिड़िया कान्फ्रेंस बन गयी है—हम सब उसके मेम्बर हैं। आज से हम अपना आन्दोलन शुरू करते हैं। हम इतना शोर मचायेंगे, इतना चिल्लायेंगे कि चिड़ीमार हमारे सामने हथियार डालने पर विवश हो जायेगा।"

"चिड़िया कान्फ्रेंस जिंदाबाद ! चिड़िया कान्फ्रेंस जिंदाबाद !!"

सब चिल्लाये, मगर चिड़े ने पूछा–"मगर भाई हम कहेंगे क्या ?"

पड़ोसी चिड़े ने कहा—"नेताओं ने तय कर लिया है कि हमारा नारा आज से यही होगा कि 'हमारा जंगल छोड़ दो।'

सो इस दिन से 'हमारा जंगल छोड़ दो' का आन्दोलन शुरू हो [illegible]। लाखों चिड़ियों की चूँ-चूँ-चूँ मिल कर एक तूफानी आवाज बन [illegible]। इसमें हजारों कौओं की काँव-काँव, फाख्ताओं की कू-कू, हुद हुद [illegible] खट-खट, उल्लू की हू हू यानी तमाम जंगल गूंज उठा और आखिर-[illegible]कार चिडीमार को हार माननी पड़ी। उसने चिड़ियों के नेताओं से समझौता कर लिया। चिड़ीमार ने पिंजरों के दरवाजे खोल दिये और ऐलान कर दिया कि मैं जङ्गल छोड़ कर जा रहा हूँ..।

सारे जङ्गल में खुशी की लहर दौड़ गयी। "आज़ाद जङ्गल ज़िंदा-

वाद ! आज़ाद जङ्गल की जय !!" के नारे गूँजने लगे। परिन्दे पिंजरो से निकल कर इधर-उधर आने की कोशिश करने लगे, मगर उड़ने की आदत और ताकत जाती रही थी। फुदक फुदक कर रह गये।

एक और विपदा यह पड़ी की तोते, जो अपना हरा रग होने की वजह से अपने आपको और परिन्दों से अलग समझते थे, उन्होंने एक नया नारा उठा दिया—'बट के रहेगा जङ्गल, तब होगा हमारा मंगल।'

इनका दावा था कि एक चौथाई जङ्गल हम तोतों को मिलना चाहिए ताकि हम अपना स्वतन्त्र 'तोतास्तान' कायम करें। इस पर कबूतर बिगड़ बैठे। परिणाम यह हुआ कि दोनों मे घमासान लड़ाई हुई। कबूतरों को जहाँ मौका मिला, उन्होंने तोतों को चोंचें मार-मार कर लहू-लुहान कर दिया और इसी तरह तोतों का जहाँ बस चला, उन्होंने ठोंगे मार-मार कर कबूतरों का कचूमर निकाल दिया। आखिरकार इसी विदेशी चिड़ीमार ने बीच-बचाव कराया और कबूतरों को भी 'तोतास्तान' कायम करने पर राजी कर लिया।

जङ्गल का बटवारा हो गया। 'तोतास्तान' कायम हो गया। मगर इससे क्या, पिंजरों के दरवाजे तो खुल गये। हाँ, यह और बात है कि अभी परिन्दों को उड़ने की आदत ही न पड़ी थी। सिवाय कुछ नेताओं के जो निहायत सफाई से फुर-फुर उड़ते फिरते थे। इस पर नेताओं ने सब परिन्दों को समझाया कि अभी तुम्हें स्वतन्त्र रूप से उड़ने की आदत नहीं, अत कुछ दिन और पिजरों में ही रहो। अब ये वे पुराने गुलामी के पिंजरे नहीं रहे, अब ये आज़ाद पिंजरे हैं और इस आज़ादी का ऐलान करने के लिए उन्होंने हुक्म दिया कि हर पिंजरे पर एक-एक तिरंगा झण्डा लगा दिया जाय।

चिड़ा गया चावल का दाना लाने, मगर कहीं चावल न मिला।

चिड़िया गयी दाल का दाना लाने, मगर उसे कहीं दाल का पता न मिला। सुना, सारा अनाज कुछ गधों और चीलों ने काले पिंजरों में बन्द कर रखा था। सब परिन्दे भूखों मर रहे थे और कोई-कोई तो कहता-"इससे तो वह गुलामी का जमाना ही अच्छा था," मगर कुछ उल्लू आँखें बन्द किये रट लगा रहे थे-"भूखे हैं अगर तो क्या ' आज़ाद तो हैं।" चिड़ा बोला-"चूॅ-चूॅ-चूँ ...कहना चाहता था 'वाह री आज़ादी।" मगर चिड़िया ने दबी आवाज़ में कहा—"चूॅ-चूॅ-चूँ यानी चुप रहो नहीं तो कोई पकड़ कर ले जायगा।" बात यह थी कि कुछ लक्का कबूतरों ने, जो अब चिड़ीमार का काम कर रहे थे, यह आज्ञा सुना दी थी कि चिड़ियों की चूं-चूॅ बन्द करदी जाय और किसी को चोंच खोलने की आज्ञा न दी जाय.. ।

और इस तरह सारे जङ्गल पर सन्नाटा छा गया और बहुत दिनों तक छाया रहा। यहाँ तक कि एक दिन एक बागी चिड़े ने ज़ोर से नारा लगाया—"चूं-चू चूॅ-चूँ-चूॅ यानी जङ्गल के परिन्दो, एक हो जाओ! पिंजरों के दरवाज़े तोड़ दो!" और फिर एक लाख परिंदों की मिली हुई आवाज़ तूफ़ान की तरह उठी—"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद!"

पिंजरों के दरवाज़े परिंदों की चोंचों की मार से टूट गये। एक अनियन्त्रित बाढ़ की तरह परिंदों का यह दल-बादल उन गधों, चीलों, उल्लुओं पर टूट पड़ा, जो चिड़ीमार के उत्तराधिकारी बने थे और सारे चावल, सारी दाल पर अधिकार किये बैठे थे। जङ्गल में चिड़िया-राज कायम हो गया।

चिड़ा लाया चावल का दाना, एक नहीं, बल्कि कई दाने। चिड़िया लायी दाल का दाना, एक नहीं, कई। मगर उन्होंने अलग खिचड़ी

नहीं पकायी बल्कि सब चिड़ों चिड़ियों ने मिल कर खिचड़ी पकायी और खूब डट कर खायी और बहुत दिनों के बाद आराम की नींद सोये।

मगर इस जङ्गल के आस-पास दूसरे जङ्गल भी तो थे। जहाँ के परिंदे आज़ाद नहीं थे, पिंजरों में बन्द थे, वहाँ अब भी ज़ालिम चिड़ीमारों का राज था। वे चिड़ीमार चिड़िया राज के अत्यन्त विरुद्ध थे। इसको हानि पहुँचाने के लिए उन्होंने कोई उपाय उठा नहीं रक्खा। उक़ाबों, शकरों के दल-बादल लेकर आक्रमण किये। मूसों, चूहों और बिच्छुओं को ज़मीन के नीचे नीचे बिलों के रास्ते भेजा कि चिड़िया राज की जड़ों को खोखला करें। उनके उल्लू हू-हू करके चिल्लाते, "चिड़िया राज मुर्दाबाद। चिड़ियाराज मुर्दाबाद!" चिड़ियाराज वाले परेशान हो गये। पहले तो उन्होंने यह किया कि दुश्मनों के उल्लूओं से बचने के लिए अपने यहाँ कठोर नियम बना दिये कि कोई चिड़िया गैर-कानूनी चूँ-चूँ न कर सके, न बाहर जा सके। और बहुत से तीव्र दृष्टि वाले उक़ाब छोड़ दिये कि हरेक चिड़िया पर निगरानी रक्खे। चिड़ा बोला, "चूँ-चूँ यानी फिर तुमने लाल लिपस्टक ओंठों पर मली!" चिड़िया जल्दी से बोली, "चूँ-चूँ चूँ यानी धीरे से बोलो, कोई सुनले . . ."चिड़ा भयभीत हो कर चुप हो गया।

इन दुश्मनो से बचने के लिए चिड़ियाराज वालों ने अपने जङ्गल के चारों ओर दीवारें खड़ी कर लीं ताकि शत्रु सुनने न पाये और न शत्रु के उल्लुओं की आवाज ही आ सके और जब शत्रु के उक़ाब चिड़िया-राज के ऊपर मँडराने लगे, तो चिड़ियाराज की सरकार ने दीवारों के ऊपर एक छत डलवादी ..।

मतलब यह है कि तमाम चिड़ियाराज का जङ्गल एक विशाल पिंजरा बन कर रह गया जिसके ऊपर एक शानदार लाल झंडा लहरा रहा था।

चिड़ा बोला, "चूँ-चूँ-चूँ यानी यह पिंजरा और सब पिंजरों से

बडा और अच्छा है। खिचड़ी भी काफी मिलती है। मगर क्या चिड़ियों को हमेशा किसी न किसी छोटे या बड़े पिंजरे में ही रहना पड़ेगा?

चिडिया बोली–"चूँ-चूँ-चूँ खिचडी मिलना, बहुत जरूरी है, मगर चिडियों को चूँ-चूँ-चूँ करने की स्वतन्त्रता तो होनी ही चाहिए ... ।"

चिड़े-चिड़िया की कहानी समाप्त हो गयी। यह कहानी मैंने एक मित्र को सुनायी, सुनकर बोले—इस खुराफात का अर्थ?" मैंने कहा—लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता के सिलसिले में एक जलसा है, उसमें सुनाऊँगा।"

कहने लगे—"आजादी, आजादी किस चिड़िया का नाम है?"

—o—

बदला

लाल और पीले, पीले और लाल रंग हर समय उसकी आँखों के सामने नाचते रहते।

लाल—रक्त के समान लाल!

पीला—एक मुर्दा चेहरे के समान पीला!

लाल और पीले, पीले और लाल रंगों के बुलबुले वायुमण्डल में हर समय मँडराते रहते।

लाल और पीले, पीले और लाल रंगों की किरणें न जाने किस सूरज से आकर आँखों के रास्ते उसके दिमाग में घुस जातीं। उसके रोम-रोम में यह लाल और पीली किरणें सुइयों की भाँति घुसती चली जातीं।

हर समय लाल और पीले, पीले और लाल शोले शैतानी जबानों की तरह वायुमण्डल में लपकते हुए नज़र आते। एक अलाव जिसके गिर्द भूत नाचते होते और उस अलाव में लकड़ियों की जगह मुर्दों

की हड्डियाँ जलायी जातीं। हजारों चिताओं का एक अलाव और उसके गिर्द भूत नाच-नाच कर चिल्लाते—बदला! बदला!! बदला!!!

लाल और पीले, पीले और लाल, यह दो आतिशीं* रंग उसके मन-मस्तिष्क और आत्मा पर छाये हुए थे। ऊषा की लाली में, डूबते हुए सूर्य की कँवल की पीलाहट में उसे शोले ही शोले दिखायी देते। उसकी प्रत्येक चेतना में आग बस गयी थी। उसकी हर सांस में धुआँ निकलता था। कभी-कभी उसे स्वयं यह अनुभव होता कि वह अब इन्सान नहीं रहा, बल्कि लाल और पीले शोलों का बवंडर बन गया है।

लोग कहते थे हरिदास पागल हो गया है। वह न किसी से मिलता-जुलता, न बात करता और क्योंकि वह एक अनन्त मौन में डूबा रहता था, इसलिए लोगों को उसके पागलपन का विश्वास हो गया। उसके सामने कोई बात भी हो रही हो, हँसी-मजाक या शादी-ब्याह की बात-चीत या किसी फिल्म की चर्चा। वह कभी न बोलता, वह न केवल बात-चीत में कोई भाग न लेता, बल्कि उसके चेहरे पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न पायी जाती, मानो वह पत्थर की मूर्ति हो या मृत शव हो, या एक ही साथ अन्धा, बहरा और गूँगा हो। लेकिन यदि उसके सामने कोई साम्प्रदायिक दंगों के बारे में कुछ कह देता, तो तुरन्त ही हरिदास की आँखों में खूनी शोले चमकने लगते और बिना एक शब्द भी मुँह से निकाले उसके रोम-रोम से यह जगी नारा सुनायी देता—बदला! बदला!! बदला!!!

यह तो सब को मालूम था कि हरिदास लायलपुर का रईस था। जब पंजाब दो टुकड़ों में विभाजित हो कर दंगों की भयानक भट्टी में झोंका गया, यह भी कहा जाता है कि उसके घर वालों में से कोई न

---

*आतिशी = आग्नेय, प्रचंड

बच पाया था। लेकिन अब उस घटना को दस महीने बीत चुके थे और समय के साथ-साथ ऐसी भयकर घटनाएँ भी धीरे-धीरे भूलती जाती थीं। फिर हरिदास के विषय में तो यह भी नहीं मालूम हो सका था कि उसकी स्त्री और बच्चो ने किन परिस्थितियों में अपने प्राण दिये। नदीमें कूद कर या आग में जल कर या वे किसी हत्यारे के छुरे का शिकार हुए। उसने किसी को अपना भेदी न बनाया था।

हरिदास पागल न था। उसे अपने घर का लुटना और जलना, अपनी पत्नी का नदी में कूद कर अपनी जान देना, कितने ही पड़ोसियों, सबधियों और दोस्तों की हत्या, सब कुछ याद था। लेकिन जब कभी उसे अपनी बेटी जानकी याद आ जाती, उसके दिमाग का कोई पुर्जा एकाएक बिगड़ जाता। कुछ भयकर घटनाएँ चित्रों की भाँति उसकी आँखों के सामने फिर जातीं—लेकिन बिना किसी क्रम के, जैसे सिनेमा की मशीन बिगड़ जाय और फिल्म उलटी-सीधी चलने लगे और कामेडी-ट्रेजिडी और हीरो-हीरोइन की पहचान कठिन हो जाय।

चित्र—सुन्दर चित्र और भयकर चित्र।

जानकी, सत्रह वर्ष की जानकी, माता-पिता की आँखों का तारा जानकी, जिसका रग दूध में गुलाब की पत्तियाँ डाल कर बनाया गया था, जिसकी आँखें नरगिस को लज्जित करती थीं, जो इतनी कोमल थी कि हाथ लगाते डर लगता था, जो मैट्रिक करने के बाद कालेज में प्रविष्ट होने वाली थी, वह सारे लायलपुर की लड़कियों में सबसे अधिक सुन्दर और सबसे अधिक प्रतिभा-शालिनी थी।

जानकी का सुन्दर और अबोध चेहरा।

और फिर कुछ भयानक और डरावने चेहरे, आँखों में जगलीपन और बर्बरतापूर्ण कामुकता, कठोर ओंठों पर एक शैतानी मुस्कराहट।

छुरों की तीव्र धार, सूरज के प्रकाश में चमकती हुई बन्दूकों की

काली अधी आँखे, वे भयानक और डरावने चेहरे जानकी के निरीह चेहरे की ओर बढ़ते हुए। हरिदास को अपनी चीख दस महीने के बाद भी वायु मंडल में गूँजती सुनायी पड़ती—"मेरी जान ले लो, पर मेरी बेटी की जान छोड़ दो!"

वे भयानक चेहरे फिर फूल-जैसी जानकी की ओर बढ़ते हुए।

"मैं मुसलमान हो जाऊँगा, मेरी बेटी भी मुसलमान हो जायगी पर उसे छोड़ दो!"

उन भयानक चेहरों पर दया की एक झलक भी न दिखायी दी। कामातुर आँखें बराबर जानकी की ओर बढ़ती रहीं।

"मेरी बेटी जवान है, खूबसूरत है। तुम में से कोई एक उसको पसन्द कर लो, उसको मुसलमान करके शादी कर लो, परन्तु उसकी जान मत लो।"

भयानक चेहरों में सब से अधिक भयानक चेहरा, पीले गन्दे दाँत, आँखों से वासना और अनाचार की लपटें निकलती हुईं, भरी हुई दाढ़ी और जानकी का मासूम फूल-सा चेहरा, फिर दोनों एक हो गये। चाँद पर काली भयानक बदली छा गयी, लेकिन इससे पहले कि बदली मासूमियत को ढँक दे, हरिदास को अपनी बेटी की फटी-फटी आँखों में भय, शोक, लाचारी, घृणा और दया की प्रार्थना, फिर पूर्ण निराशा की मिली-जुली झलक दिखायी दी कि पिता उसको सहन न कर सका और उसने अपनी आँखें मूँद लीं।

अब भी जब कभी वह भयानक चित्र हरिदास के दिमाग के पर्दे पर उभरता, वह फिर अपनी आँखें बन्द कर लेता। कपड़े फटने की आवाज़, उस राक्षस की भारी साँस की धौंकनी, जानकी की चीखें, कराहें, सिसकियाँ और आहें उसके कानों में फिर गूँजतीं और वह बार-बार फिर उसे नरक का ईंधन बनना पड़ता।

आँखें बन्द होने पर भी एक भयानक चेहरे के बाद दूसरा चेहरा दिमाग के पर्दे पर नज़र आता रहता। दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, यहाँ तक कि जानकी की आहें भी सुनायी पड़ने लगतीं और यह ख़ामोशी उसे उन दर्दनाक चीखों से भी अधिक भयावह प्रतीत होती। वह आँखें खोल देता।

जानकी का फूल सा चेहरा .....जैसे मसला हुआ फूल मिट्टी में पड़ा हो, बेरंग, बेजान, बालों में धूल भरी हुई, गालों पर वहशी दाँतों के निशान, ताजे घावों से खून रिसता हुआ, मुर्दा पीले गालों को स्नो-क्रीम की कितनी जरूरत थी! .. ..वहशी दाँतों के निशान और खून रिसता हुआ—गालों पर ही नहीं, बल्कि नाक पर, कानों पर .. और नगी छातियों पर .. ..

जब बर्बरता हद से बढ़ जाय, तब उसकी भयंकरता की कमी-ज़्यादती का ख्याल करना मुश्किल और बेकार है। क्या नाक की नथुनी को इस तरह खींच कर निकालना कि नथुने चिर कर घायल हो जायँ, बालियाँ खींच कर कान ज़ख्मी कर देने से कम बुरा है? क्या यह ज़्यादा भयानक है कि एक मासूम लड़की की लाज लूट कर उसको मार डाला जाय, या यह कि उस की हत्या करके उसकी लाश के साथ अपना मुँह काला किया जाय......पर इन मासूम, जवान, नग्न छातियों पर वहशी दाँतों के निशान, क्रूरता और निर्दयता का यह भयानक दृश्य हमेशा हमेशा के लिए हरिदास के दिमाग पर आतिशीं रगों में अंकित हो गया था।

चिता के शोले, उसकी प्यारी जानकी की चिता, जो हरिदास ने अपने हाथों से तैयार की थी। अग्नि देवता उस फूल सी लाश को खा गये—जानकी, उसकी अबोधता, उसके अपमान, उसके घाव सबको खा गये। हरिदास को उस चिता के शोले अब भी नजर आते थे और उस

की आँखों के सामने लाल और पीली आकृतियाँ बनकर नाचती थीं और उसे यह मालूम होता था कि मानो यह उसकी जानकी ही को नहीं, सारे भारत की लाश जल रही है, मानवता भस्म हो रही है, दया और न्याय का अन्त हो रहा है। समस्त सृष्टि लाल और पीले रंगों में घुल-मिल रही थी।

चिता के शोले आखिर बुझ ही गये, परन्तु बदले की जो आग उन्होंने हरिदास के दिल और दिमाग में सुलगायी थी, वह अब तक न बुझी थी, वह कभी न बुझेगी . . . .कभी नहीं. . हाँ, एक ही उपाय था उस आग के बुझने का . . . . बदला! यदि मरने से पहले हरिदास किसी मुसलमान लड़की की नंगी छातियों में वह छुरा भोंक दे, जिसे वह हर समय अपने पास इसी उद्देश्य से रखता था—बदला! इसके बाद हरिदास एक मिनट भी जीवित न रहना चाहता था।

बदला लेने के लिए एक मुसलमान लड़की दरकार थी और मुसलमान लड़कियाँ दिल्ली में दुर्लभ थीं। वे शहर के बीचों-बीच अपने गंदे और तंग मुहल्लों, गलियों और कूचों में रहते थे, जहाँ हरिदास की पहुँच असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य थी।

फिर प्रकृति ने हरिदास के साथ एक अजीब मजाक किया। शरणार्थी [illegible] से उसे तीन सौ रुपये नकद दिये गये। पर वह उन रुपयों का क्या [illegible] जिसका घर, न द्वार, जिसको न खाने का शौक, न कपड़े का, वह सौ रुपयों का क्या करे? क्या करे?? क्या करे??? इसी उधेड़-बुन [illegible] कहाँ कहाँ मारा मारा फिरता रहा।

नयी दिल्ली से चाँदनी चौक तक, चाँदनी चौक से जुम्मा मसजिद [illegible], जिसके ऊँचे-ऊँचे मीनार और गुम्बद हरिदास को याद दिला रहे थे कि उसे हजारों-लाखों से—समस्त मुसलमानों से—बदला लेना है। जुम्मा मसजिद से दरियागंज, राजघाट, जहाँ गांधी जी की समाधि है

दर्शन भी हरिदास की प्रतिशोध की आग को बुझाने के लिए पर्याप्त न थे। उसने सोचा—गाँधी जी महात्मा थे। मैं मामूली इन्सान हूँ, बिना बदला लिये हृदय को कभी शान्ति न मिलेगी। वहाँ से वापस एडवर्ड पार्क। फिरंगी बादशाह की घोड़े पर सवार मूर्ति। वाह-बादशाह सलामत, वाह! तुम चले गये और हमें इस दशा में छोड़ गये। हरिदास न जाने किन-किन सड़कों की धूल फाँकता हुआ कहाँ आ निकला।

रात हो गयी थी। दायें हाथ को, सड़क के किनारे फुट पाथ पर उस-जैसे कितने ही बेघर शरणार्थी सो रहे थे। हवा में पेशाब, फिनायल इत्र, फूल, पसीने, गीली मिट्टी और पेट्रोल की मिली-जुली गंध बसी हुई थी। बायीं ओर दूकानें कुछ खुली, कुछ बन्द, मिठाई की दूकानें, होटल दूध वाले, लस्सी की दूकानें। लेकिन प्रत्येक पथिक कोठों की ओर देखता चल रहा था। कोठे—जहाँ रोशनियाँ जगमगा रही थीं और जहाँ से गाने-बजाने की आवाजें आ रही थीं। यह स्थान क्या था?

एक अत्यधिक चिकने-चुपड़े, काले-से, दुबले-पतले आदमी ने हरिदास का रास्ता रोक कर कहा—"बाबू जी, कोई माल चाहिए?"

हरिदास कुछ न समझा। चुपचाप आगे चलने लगा। लेकिन वह लीचड़ इतनी आसानी से टलने वाला न था, "बाबू जी! तबीयत खुश हो जाय, तब इनाम दीजिएगा।"

हरिदास के मुँह से निकला—"भाई, मैं तो शरणार्थी हूँ।"

"मैं खुद शरणार्थी हूँ, साहब . . . . .और आप शरणार्थी हैं, तो आइए! मैं आपको एक मुसलमान लौंडिया दिखाऊँ। जरा पाकिस्तानी हूर के भी तो मजे लूटो बाबू जी।"

'मुसलमान लौंडिया? पाकिस्तानी हूर!'

बदले के लाल और पीले शोले उसकी आँखों के सामने नाचने लगे।

रास्ते में दल्लाल और भी बातें करता रहा—"चूना (मुर्गा क

बहुत छोटा बच्चा) है, साहब, चूज़ा। बस सत्रह-अठारह वर्ष की होगी।" और फिर धीमे स्वर में इधर-उधर देख कर बोला—"जालन्धर से लाया हूँ। किसी बड़े आदमी की बेटी है। दस महीने लगे हैं उसे मनाने में, तब जाकर इस धंधे में पड़ने को राजी हुई है।"

जानकी भी तो सत्रह-अठारह वर्ष की ही थी, और भयानक चेहरों ने तनिक भी तरस न खाया था। एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा.... यहाँ तक कि वह मासूम सौन्दर्य मिट्टी में मिल गया था। मैं क्यों तरस खाऊँ?—उसने अपने कोट की जेब में टटोलते हुए सोचा।

रंडी का कोठा। जमीन पर सफेद चाँदनी, छत में झाड़-फानूस, दीवारों पर राजा रामचन्द्र जी, सती सीता, नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी और पंडित जवाहर लाल नेहरू के चित्र, दो बड़े आइने, एक कोने में एक मोटी-भद्दी-काली औरत, जिसके चेहरे पर शीतला के दाग थे, बैठी पान बना रही थी और हारमोनियम, तबले और सारंगी वालों से घिरी हुई पाकिस्तानी हूर बैठी गा रही थी।

हरिदास ने कभी हूर देखी तो नहीं थी, पर ज़िक्र जरूर सुना था। यह लड़की सचमुच हूर ही थी। रंगत जानकी से भी अधिक गोरी, परन्तु पीलाहट लिये हुए। दुबली-पतली, कोमल सुतवाँ नाक, बड़ी-बड़ी आँखें, पर जानकी की तरह उनमें ज़िन्दगी की चमक नहीं थी, बल्कि उसकी जगह एक गहरी निराशा की परछाईं।

हरिदास ने देखा कि वह गा रही है, पर उसके कानों ने कुछ न सुना कि क्या गा रही है। उसने देखा कि कमरे में बहुत से तमाशबीन 'वाह-वाह' कर रहे थे, पर उसने यह न देखा कि ये कौन थे, किस वर्ग के थे। अमीर थे या गरीब, शरीफ थे या कमीने। एक कोने में बैठा वह उस लड़की को घूरता रहा, पर उसकी आँखों में दूसरे तमाशाइयों की भाँति वासना न थी, केवल लाल-पीले शोले थे।

दलाल ने उसे बता दिया था कि उसे बारह बजे तक इन्तज़ार करना पड़ेगा, जिसमें कि दूसरे तमाशाई चले जायँ। दाम दो सौ रुपये तय हुए थे। बाकी सौ रुपयों का क्या करेगा? आज तो उसकी जिन्दगी की आखिरी रात थी। इसके बाद वह रुपये-पैसे, बदले, वासना, हर आवश्यकता से मुक्त हो जायगा। सो उसने गाने वाली को दस-दस रुपये देकर उन सौ रुपयों को घन्टे भर में खत्म कर डाला। जब वह दस रुपये का नोट देता और वह सलाम करके उठा लेती तो हरिदास के मन को बड़ी तस्कीन मिलती। वह उस मुसलमान लड़की को अपमानित करके तमाम मुसलमानों से अपनी जानकी का बदला ले रहा था। पर यह तो बदले की एक हलकी-सी झलक थी। असल बदला तो वह उस समय लेगा, जब बस वह होगा और यह लड़की होगी और कमरे के दरवाजे बन्द होंगे।

वह उस लड़की की प्रत्येक गति विधि को इस तरह एक टक देखे जा रहा था, जैसे शेर अपने शिकार को घूर कर मन्त्र मुग्ध कर लेता है। उसने देखा कि यद्यपि न जाने किन परिस्थितियों के अन्तर्गत उस लड़की ने यह पेशा अपना लिया था, परन्तु वह अपनी अदाओं म वह 'रंडीपना' न पैदा कर पायी थी, जो रंडियों की विशेषता होती है। वह गाते समय भाव-प्रदर्शन के लिए हाथ भी चलाती थी और आँखें भी मटकाती थीं, पर एक अजीब मशीनी ढंग से, बिना किसी प्रकार की भावना के, जैसे विलायती गुड़िया चाभी भरने पर नाचने और आँखें मटकाने लगे। और हरिदास को ऐसा लगा मानो वह एक स्त्री को नहीं, बल्कि एक निर्जीव, निष्प्राण, किन्तु चलते-फिरते पुतले को देख रहा हो।

एक बात और उसने देखी। जब कोई तमाशाई उसे रुपया या नोट देने के बहाने से उसके हाथ या शरीर के किसी और अंग को

छूने का प्रयत्न करता, तब वह बिजली की-सी फुर्ती से वहाँ से हट जाती। एक तमाशबीन ने सौ रुपये तक का नोट दिखा कर कोशिश की कि वह उसके हाथ को छू ले, पर वह वहाँ से हट आयी। लेकिन उसके चेहरे पर गुस्से, घृणा या विरोध के भाव भी न थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो हर प्रकार के भाव निचोड़ कर उसकी आत्मा से निकाल लिये गये हों.. .हाँ, यह अवश्य था कि हर बार जब कोई उसे नोट या रुपया देता था, वह बड़ी बेपरवाही से कमरे के बीचो-बीच उस काली, मोटी, भयानक औरत की तरफ़ फेंक देती थी। उसके चेहरे पर अब भी कोई भाव दिखायी न पड़ता था। पर जिस झटके के साथ वह रुपया फेंकती थी, उसमें कितनी घृणा थी! मानो वह कह रही हो—"लो, यह लो रुपया......इसी के लिए तुम मुझे बाजार में बेचती हो न,....तो यह लो . ..और लो.. ..इन रुपयों से अपने पेट का नरक भर लो!"

और हरिदास को यह अदा बहुत भायी। इन सब बातों से प्रतीत होता था कि वह कोई घटिया लड़की नहीं थी, किसी सभ्य और खाते-पीते घराने की थी। उसके उच्चारण से मालूम होता था कि वह काफी पढ़ी-लिखी भी होगी—जानकी का बदला लेने के लिए वह हर दृष्टि उपयुक्त थी।

बारह बजे तमाशाइयों को विदा कर दिया गया। लड़की बिना हरिदास की ओर देखे ही सीधी अन्दर कमरे में चली गयी। दल्लाल ने हरिदास से सौ-सौ रुपये के दो नोट लेकर मोटी औरत को दिये, जिसने उनको मसल-मसल कर रोशनी के सामने गौर से देखा। फिर पानदान में से दस रुपये निकाल कर दल्लाल को दिये और गन्दे दाँतों का प्रदर्शन करते हुए हरिदास से कहा—"जाओ बाबू जी! पर ध्यान रखना, ज़रा नयी है।"

अगले क्षण हरिदास कमरे के अन्दर था।

उसने सावधानी से अन्दर की चटकनी लगा दी। फिर वह लड़की की ओर बढ़ा जो पलंग पर बैठी दीवार की ओर एक टक देख रही थी। न जाने क्या सोच रही थी। हरिदास को देख कर वह अदब से खड़ी हो गयी और फिर झुक कर उसके बूटों के फीते खोलने लगी। शायद उसे हर एक को खुश करने का हुक्म मिला था।

"रहने दे !" हरिदास ने कठोरता से कहा। पर एक मुसलमान लड़की को यों अपने चरणों में झुके देख उसे कितना संतोष हुआ !

"कपड़े उतार !" हरिदास ने हुक्म दिया।

लड़की ने किसी हद तक काँपते हाथों से साड़ी उतार दी, केवल पेटी कोट और ब्लाउज़ रह गये।

"यह भी !"

लड़की ने शर्म से दूसरी ओर मुँह फेर लिया और पेटीकोट भी उतार दिया। हरिदास का हाथ अपनी जेब की ओर गया।

"मैं तुझे बिलकुल नंगी देखना चाहता हूँ। दो सौ रुपये दिये हैं ! सुना ?"

अपने बदन को शर्म से चुराते हुए लड़की ने घूम कर एक बार विनयपूर्ण दृष्टि से अपने अधेड़ आयु के ग्राहक को देखा। शायद वह दया करके उसके पूर्ण नग्न होने का आग्रह न करे।

"जल्दी कर, मेरे पास समय नहीं है।" जेब के अन्दर छुरे की धार को वह अपनी उंगली से छूकर उसकी तेज़ी की परीक्षा कर रहा था।

लड़की धीरे से बिजली के बटन की ओर बढ़ी।

"नहीं !" हरिदास ने रास्ता रोकते हुए कहा—"अँधेरा नहीं चाहिए।"

आखिर उसकी जानकी की लाज तो दिन-दहाड़े सड़क के किनारे लुटी थी।

लड़की ने ब्लाउज भी उतार दिया। केवल चोली रह गयी, जो छातियों के उभार को और भी स्पष्ट कर रही थी।

"यह भी!" और उसने फिर छुरा जेब से निकाल कर हाथ अपनी पीठ के पीछे कर लिया।

एक बार लड़की ने विनयपूर्ण दृष्टि से हरिदास की ओर देखा। ऐसी ही विनयपूर्ण दृष्टि से जानकी ने उन जालिमों की ओर देखा था और उन्होंने तरस न खाया था। फिर आज हरिदास क्यों तरस खाये? लड़की ने हाथों से मुँह छिपा लिया। सिसकियों की आवाज़ आयी और कुछ आँसू आँखों के पर्दे से निकल कर उसकी छातियों पर गिरे।

हरिदास के हाथ में छुरा चमका। एक हाथ ऊपर हवा में गया और दूसरे हाथ से उसने लड़की के हाथों को उसके चेहरे से अलग कर दिया। वह चाहता था कि वह जो करने वाला है, उसे यह मुसलमान लड़की भी अपनी आँखों से देखे, जैसे जानकी ने देखा था। लाल और पीले, पीले और लाल शोले वायु मंडल में चारों ओर उड़ रहे थे, खुशी से नाच रहे थे।

लड़की ने जब हरिदास के हाथ में एक धारदार छुरा देखा और दूसरे हाथ को अपनी चोली की ओर बढ़ते देखा, तो सहसा उसकी आँखों में हरिदास को वह सारा भय, घृणा, बेबसी, आश्चर्य, दुख, विनय और दया की प्रार्थना और पूर्ण निराशा नज़र आयी, जो एक दिन उसने अपनी बेटी की आँखों में देखी थी।

पर जानकी की विनयपूर्ण दृष्टि उन वहशियों के वार को न रोक सकी थी, इसलिए आज हरिदास के प्रतिशोध की आग को भी किसी

के आँसू न बुझा सकेंगे।

बायाँ हाथ तेजी के साथ चोली पर पड़ा। आँख झपकी, चोली जो काफी भारी और बोझिल थी, उतर गयी और उसके साथ ही......

हरिदास का दायाँ हाथ, जिसमें छुरा था, हवा में टँग कर रह गया। उसकी आँखें लज्जा और ग्लानि से झुक गयीं। उसके मुँह से केवल एक शब्द निकला—"बेटी!"

चोली के नीचे, जहाँ वह वार करने वाला था, वहाँ छातियाँ न थीं, वहाँ कुछ न था।

—o—

मेरी मौत

लोग समझते हैं कि सरदारजी मारे गये।

नहीं। यह मेरी मौत है—पुराने 'मैं' की मौत—मेरे विद्वेष की मौत—उस घृणा की मौत, जो मेरे दिल में थी। मेरी यह मौत कैसे हुई? यह बताने के लिए मुझे अपने पुराने मुर्दा "मैं" को ज़िन्दा करना पड़ेगा।

मेरा नाम शेख़ बुर्हानुद्दीन है।

जब दिल्ली और नई दिल्ली में साम्प्रदायिक दंगे का बाज़ार गर्म हो गया और मुसलमान का खून सस्ता हो गया, तो मैंने सोचा, 'वाह री किस्मत! पड़ोसी भी मिला तो सिक्ख! पड़ोसी का हक अदा करना और मेरी जान बचाना तो दूर रहा, न जाने कब यह खुद कृपाण भोंक दे। बात यह है कि मैं सिक्खों से किसी हद तक डरता हूँ, काफी नफरत करता हूँ और उनको विचित्र प्रकार के जीव समझता हूँ, आज से नहीं, बचपन से। मैं शायद छः बरस का था, जब पहली बार मैंने एक सिक्ख को देखा था, जो धूप में बैठा अपने बालों में कंघी कर रहा था। मैं

चिल्ला पड़ा, "अरे, वह देखो, वह देखो ! औरत के मुँह पर कितनी लम्बी दाढी !" जैसे-जैसे उम्र गुज़रती गयी, यह आश्चर्य स्थायी घृणा में बदलता गया। घर की बड़ी-बूढियाँ जब किसी बच्चे के बारे में किसी अशुभ बात का जिक्र करतीं, जैसे यह कि उसे निमोनिया हो गया था, या उसकी टाँग टूट गयी थी, तो कहतीं, "अब से दूर किसी सिक्ख फिरंगी को निमोनिया हो गया था।" या "अब से दूर किसी सिक्ख फिरंगी की टाँग टूट गयी थी !" बाद में मालूम हुआ कि यह कोसना सन् १८५७ की यादगार था, जब हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली आज़ादी की लड़ाई को दबाने में पंजाब के सिक्ख राजाओं और उनकी फौजों ने फिरंगियों का साथ दिया था। पर उस समय ऐतिहासिक सच्चाइयों पर नज़र नहीं थी। सिर्फ एक विचित्र-सा भय, एक अजीब-सी नफरत और गहरा द्वेष-भाव था। डर अँग्रेज से भी लगता था और सिक्ख से भी, पर अँग्रेज से ज्यादा। मसलन जब मैं कोई बारह-तेरह वर्ष का था, एक दिन दिल्ली से अलीगढ जा रहा था। हमेशा थर्ड या इण्टर में सफर करता था। सोचा, अबकी बार सेकेण्ड क्लास में सफर करके देखा जाय। टिकट खरीद लिया और एक खाली डिब्बे में बैठ कर गद्दों पर खूब कूदा। बाथरूम के आइनें में उचक-उचक कर अपनी शकल देखी। सब पंखों को एक साथ चला दिया। बत्तियों को कभी जलाया, कभी बुझाया। लेकिन अभी गाड़ी के चलने में दो-तीन मिनट बाकी थे कि लाल-लाल मुँह वाले चार फौजी गोरे आपस में 'डैम, ब्लडी' प्रकार की बातें करते हुए डिब्बे में घुस आये। उनको देखना था कि सेकेण्ड क्लास में सफर करने का सारा शौक रफू-चक्कर हो गया। अपना सूटकेस घसीटता, मैं भागा और एक बिलकुल खचाखच भरे हुए थर्ड क्लास के डिब्बे में आकर दम लिया। यहाँ देखा, तो कई सिक्ख दाढियाँ खोले कच्छे पहने बैठे थे। लेकिन मैं उनसे डर कर, डिब्बा छोड़ कर भागा नहीं, सिर्फ उनसे कुछ

दूरी पर बैठ गया।

हाँ, डर तो सिक्खों से भी लगता था और अंग्रेजों से उनसे भी ज्यादा, लेकिन अंग्रेज अंग्रेज थे, और कोट-पतलून पहनते थे (जो मैं भी पहनना चाहता था) और 'डैम, ब्लडी, फूल' वाली भाषा बोलते थे (जो मैं भी सीखना चाहता था), इसके अलावा वे हाकिम थे, और मैं भी छोटा-मोटा हाकिम बनना चाहता था। वे काँटे-छुरी से भोजन करते थे, और मैं भी काँटे छुरी से भोजन करने का इच्छुक था, ताकि दुनिया मुझे भी सभ्य समझे, लेकिन सिक्खों से जो डर लगता था, वह घृणायुक्त था। कितने विचित्र जीव थे यह सिक्ख, जो पुरुष होकर भी स्त्रियों की-से लम्बे-लम्बे बाल रखते थे। यह और बात है कि अंग्रेजी फैशन की नकल में सिर के बाल मुँडाना मुझे भी कुछ पसंद नहीं था और अब्बा के इस हुक्म के बावजूद, कि हर जुमे को सिर के बाल छोटे करा लिए जाएँ, मैंने बाल खूब बढ़ा रक्खे थे, जिसमें कि हाकी और फुटबाल खेलते समय बाल हवा में उड़ें, जैसे अंग्रेज खिलाड़ियों के उड़ते हैं। अब्बा कहते, "यह क्या औरतों की तरह पट्टे बढ़ा रक्खे हैं?" पर अब्बा तो थे ही पुराने, दकियानूसी विचारों के। उनकी बात कौन सुनता? उनका बस चलता तो सिर पर उस्तुरा चलवा कर बचपन में भी हमारे चेहरों पर दाढ़ियाँ बँधवा देते ..हाँ, इस पर याद आया कि सिक्खों के विचित्र जीव होने की दूसरी निशानी उनकी दाढ़ियाँ थीं। और फिर दाढ़ी-दाढ़ी में भी फर्क होता है—जैसे अब्बा की दाढ़ी, जिसको नाई बड़े सलीके से फ्रेंच-कट बनाया करता था, या ताया अब्बा की दाढ़ी, जो नोकीली और चोंचदार थी। पर यह भी क्या, कि दाढ़ी को कभी कैंची लगे ही नहीं। झाड़-झंखाड़ की तरह बढ़ता रहे, बल्कि तेल और दही और न जाने क्या-क्या मल-मल कर बढ़ायी जाय और जब कई फुट लम्बी हो जाय तो उसमें कंघी की जाय, जैसे

औरतें सिर के बालों में करती हैं–औरतें, या मुझ जैसे स्कूल के फैशनेबुल लड़के ! इसके अलावा दादा जान की दाढी भी कई फुट लम्बी थी और वे भी उसमें कघी करते थे। पर दादा जान की बात और थी। आखिर वे मेरे दादा जान ठहरे। और सिक्ख फिर भी सिक्ख ही थे।

मैट्रिक करने के बाद मुझे पढने के लिए मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ, भेजा गया। कालेज में जो पंजाबी लडके पढते थे, उनको हम दिल्ली और यू० पी० वाले नीच, जाहिल और उजड्ड समझते थे। न बात करने का सलीका, न खाने-पीने की तमीज। सभ्यता तो छू भी नहीं गयी थी। गॅवार, लट्ठ ! ये बड़े-बड़े लस्सी के गिलास पीने वाले भला केवडेदार फालूदे और लिप्टन की चाय का मजा क्या जानें ? बोली बड़ी ही भद्दी ! बात करें तो मालूम हो कि लड़ रहे हैं। "असी तुसी, साडे, तोहाडे ." भला यह भी कोई बोली थी ! मै तो सदा इन पजाबियों से कतराता था। पर खुदा भला करे हमारे वार्डन साहब का कि उन्होंने एक पजाबी को मेरे कमरे में जगह दे दी। मैंने भी सोचा कि 'चलो, जब साथ ही रहना है, तो थोड़ी-बहुत दोस्ती ही कर ली जाय।' कुछ दिनों में काफी गाटी छनने लगी। उसका नाम गुलाम रसूल था। रावलपिंडी का रहने वाला था और काफी मजेदार आदमी। चुटकुले खूब सुनाता था।

अब आप कहेंगे कि बात शुरू हुई थी सरदार साहब की, यह गुलाम रसूल कहाँ से टपक पड़ा ! लेकिन असल में गुलाम रसूल का इस कहानी से बहुत गहरा संबध है। बात यह है कि वह जो चुटकुले सुनाता था, वे आमतौर से सिक्खों के बारे में होते थे। उनको सुन-सुन कर मुझे पूरी सिक्ख कौम की प्रकृति, मनोवृत्ति, उनकी जातीय विशेषताएँ और सामूहिक चरित्र का भली-भाँति ज्ञान हो गया था। गुलाम रसूल का कहना था कि सारे सिक्ख बेवकूफ और हुद्दू होते हैं। बारह बजे

तो उनकी अक्ल बिलकुल खत्म हो जाती है। इसके प्रमाण में वह कितने ही चुटकुले सुनाया करता था दरअसल सिक्खों के इन गुणों के बारे में सैकड़ो चुटकुले गुलाम रसूल को याद थे और उन्हें जब वह पंजाबी मुहावरों के साथ सुनाता था तो सुनने वालों के पेट में बल पड़ जाते थे। असल में उनको सुनने का मजा पंजाबी ही में था, क्योंकि उजड्ड सिक्खों की विचित्र-विचित्र हरकतों का वर्णन करने के लिए पंजाबी-जैसी उजड्ड भाषा ही उपयुक्त हो सकती है। गुलाम रसूल इन चुटकुलों से सिद्ध कर देता कि सिक्ख न केवल बेवकूफ और बुद्धू थे, बल्कि गंदे भी थे। और फिर उसका अपना अनुभव भी यही था। उसने सैकड़ो सिक्खों को देखा था, जो कभी बाल न मुँड़ाते थे। फिर मैंने भी देखा था कि हम साफ़-सुथरे गाजी मुसलमानों के मुकाबले में, जो हर अठवारे जुमे-के-जुमे नहाया करते हैं, यह सिक्ख कच्छा बाँध सब के सामने नल के नीचे बैठ कर नहाते तो रोजाना थे, लेकिन अपने बालों और दाढ़ी में न जाने क्या-क्या गंदी चीजें मलते थे, जैसे दही। वैसे मैं भी सिर में लाइमजूस ग्लीसरीन लगाता हूँ, जो गाढे-गाढे दूध के समान होती है। पर उसकी बात और है। वह विलायत के बहुत मशहूर तैल-इत्र के कारखाने से निहायत खूबसूरत शीशियों में आती है और दही किसी गंदे-सदे हलवाई की दुकान से।

ग़ैर जी, हमें दूसरों के रहने-सहने के तरीकों से क्या मतलब है? पर सिक्खों का सबसे बड़ा कसूर यह था कि ये लोग अक्खड़पन, बदतमीजी और मार धाड़ में मुसलमानों का मुकाबला करने का साहस करते थे। अब दुनिया जानती है कि एक अकेला मुसलमान दस हिन्दुओं या सिक्खों पर भारी होता है, लेकिन ये सिक्ख मुसलमानों के रोब को नहीं मानते। वे एक सिक्ख को सवा लाख के बराबर

समझते थे। कृपाणें लटकाये, अकड़-अकड कर मूछों पर, बल्कि दाढी पर भी ताव देते चलते। गुलाम रसूल अक्सर कहता—"इनकी हेकड़ी हम एक दिन ऐसी निकालेंगे कि खानमा जी भी याद करेंगे।"

कालेज छोड़े कितने ही साल बीत गये। मैं विद्यार्थी से क्लर्क और क्लर्क से हेड क्लर्क बन गया। अलीगढ का होस्टल छोड नयी दिल्ली के एक सरकारी क्वार्टर में रहने लगा। शादी हो गयी, बच्चे हो गये। एक मुद्दत के बाद मुझे गुलाम रसूल की ये सब बातें याद आयीं, जब एक सरदार साहब मेरे बराबर के क्वार्टर में रहने को आये। यह रावलपिंडी से बदली करा के आये थे, क्योंकि रावलपिंडी के जिले में गुलाम रसूल की भविष्यवाणी के अनुसार सरदारों की हेकडी अच्छी तरह से निकाली गयी थी। बहादुर मुसलमानों ने उन का अच्छी तरह से सफाया कर दिया था। बड़े सूरमा बनते थे, और कृपाणें लटकाये फिरते थे, पर मुसलमान गाजियों के सामने इनकी एक न चली। उनकी दाढियाँ मूँड कर उनको मुसलमान बनाया गया था। जबरदस्ती उनका खानमा किया गया था। हिन्दू प्रेस अपनी आदत के अनुसार मुसलमानों को बदनाम करने के लिए यह लिख रहा था कि सिक्ख स्त्रियों और बच्चों को भी मुसलमानों ने कत्ल किया है। यद्यपि यह इस्लामी परम्परा के विरुद्ध है। कोई मुसलमान मुजाहिद कभी स्त्री या बच्चे पर हाथ नहीं उठाता। रही स्त्रियों और बच्चों की लाशों की तस्वीरें, जो छापी जा रही थीं, वे या तो जाली होंगी, या सिक्खों ने मुसलमानों को बदनाम करने के लिए स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों को कत्ल किया होगा। रावलपिंडी और पच्छिमी पंजाब के मुसलमानों पर यह दोष भी लगाया गया था कि उन्होंने हिन्दू और सिक्ख लडकियों को भगाया था। इसमें असलियत सिर्फ इतनी है कि मुसलमानों की जवाँमर्दी की धाक बैठी हुई है और अगर नौजवान मुसलमानों पर हिन्दू और सिक्ख

लड़कियाँ स्वयं ही लट्टू हो जायें तो उनका क्या कसूर है ? वे इस्लाम की तबलीग के सिलसिले में उन लड़कियों को अपनी शरण में ले लेते हैं। हाँ, तो सिक्खों की तथा-कथित बहादुरी का भाँडा फूट गया था। भला अब तो मास्टर तारा सिंह लाहौर में कृपाण निकाल कर मुसलमानों को धमकियाँ दें। पिंडी से भागे हुए सरदार की तबाही हालत को देख कर मेरा दिल इस्लाम के नूर से भर गया।

हमारे पड़ोसी सरदार जी की उम्र कोई साठ वर्ष की होगी। दाढ़ी बिलकुल सफेद हो चली थी। हालाँकि मौत के मुँह से बच कर आये थे, लेकिन हर समय दाँत निकाले हँसते रहते थे, जिससे साफ़ प्रकट होता था कि वे दरअसल कितने बेवकूफ़ और बेशर्म थे। शुरू-शुरू में उन्होंने मुझे अपनी दोस्ती के जाल में फँसाना चाहा। आते-जाते जबरदस्ती बातें करना शुरू कर देते। न जाने सिक्खों का कौन-सा त्योहार था। उस दिन प्रसाद की मिठाई भी भेजी, जो मेरी पत्नी ने तुरन्त मेहतरानी को दे दी। मैंने उन्हें ज्यादा मुँह न लगाया। कोई बात हुई, सूखा-सा जवाब दे दिया, क्योंकि मैं जानता था कि सीधे-मुँह दो-चार बातें कर लीं तो यह पीछे ही पड़ जायगा। आज बातें, तो कल गाली-गलौज शुरू कर देगा। गालियाँ तो आप जानते ही हैं, सिक्खों की दाल-रोटी होती है। कौन अपनी जबान गंदी करे, ऐसे लोगों से सम्बंध बढ़ा कर ?

हाँ, एक इतवार की दोपहर में अपनी पत्नी को सिक्खों की बेवकूफ़ी के किस्से सुना रहा था। इसका प्रमाण देने के लिए ठीक बारह बजे मैंने अपने नौकर को सरदार जी के यहाँ भेजा कि पूछ कर आये, क्या बजा है। उन्होंने कहलवा दिया कि बारह बज कर दो मिनट हुए हैं। मैंने पत्नी से कहा "ये बारह बजे का नाम लेते घबराते हैं।" और हम खूब हँसे। इसके बाद कई बार मैंने बेवकूफ़

बनाने के लिए सरदार जी से पूछा—"क्यों, सरदार जी, बारह बज गये?" और वे बेशर्मी से दाँत निकाल कर जवाब देते—"जी, असाँ दे ताँ चौबीसों घंटे बारह बजे रहते हैं।" और यह कह कर खूब हँसते। मानो यह कोई बड़ा मजाक हुआ।

मुझे सबसे ज्यादा डर बच्चों की तरफ़ से था। पहले तो किसी सिक्ख का एतबार नहीं, न जाने कब बच्चे ही के गले पर कृपाण चला दे। फिर ये लोग रावलपिंडी से आये थे। ज़रूर ही मुसलमानों के लिए मन में द्वेष रखते होंगे और बदला लेने की ताक में होंगे। मैंने पत्नी को ताकीद कर दी थी कि "खबरदार, बच्चे सरदार जी के क्वार्टर की तरफ़ न जाने दिये जायँ!" पर बच्चे तो फिर बच्चे ही होते हैं। कई दिनों के बाद मैंने देखा कि वे सरदार की छोटी लड़की मोहिनी और उनके पोतों के साथ खेल रहे हैं। यह बच्ची, जिसकी उम्र मुश्किल से दस वर्ष की होगी, सचमुच मोहिनी ही थी—गोरी-चिट्टी, अच्छा नाक-नक्शा, बड़ी खूबसूरत! कमबख्तों की औरतें काफी सुन्दर होती हैं। मुझे याद आया, गुलाम रसूल कहा करता था कि अगर पंजाब से सिक्ख मर्द चले जायँ और अपनी औरतों को छोड़ जायँ तो फिर हूरों की तालाश में कहीं जाने की जरूरत नहीं। मैंने अपने बच्चों को सरदार जी के बच्चों के साथ खेलते देखा तो मैं उनको घसीटता हुआ अन्दर ले गया और खूब पिटाई की। फिर कम-से-कम मेरे सामने उनकी हिम्मत न हुई कि उधर का रुख करें।

बहुत जल्द सिक्खों की असलियत पूरी तरह ज़ाहिर हो गयी। रावलपिंडी से तो डरपोकों की तरह पिट कर भाग आये, पर पूर्वी पंजाब में मुसलमानों को थोड़ी संख्या में पाकर, उन पर जुल्म ढाना शुरू कर दिया। हज़ारों, बल्कि लाखों मुसलमानों को शहीद कर दिया गया। इस्लामी खून की नदियाँ बह गयीं। हज़ारों मुसलमान औरतों को नंगा

करके जुलूस निकाला गया। जब से पश्चिमी पंजाब से भागे हुए सिक्ख इतनी बड़ी संख्या में दिल्ली आने शुरू हुए थे, इस विपत्ति का यहाँ तक पहुँचना यकीनी हो गया था। मेरे पाकिस्तान जाने में अभी कुछ हफ्तों की देर थी, इसलिए मैंने अपने बड़े भाई के साथ अपने बाल-बच्चों को तो हवाई जहाज से कराची भेज दिया और खुद खुदा पर भरोसा करके ठहरा रहा। हवाई जहाज में सामान तो ज्यादा जा नहीं सकता था, इसलिए मैंने एक पूरा वैगन बुक करा लिया। पर जिस दिन हम सामान चढाने वाले थे, उस दिन सुना कि पाकिस्तान जाने वाली गाड़ियों पर हमले हो रहे हैं। इसलिए सामान घर में ही पड़ा रहा।

पन्द्रह अगस्त को आजादी का उत्सव मनाया गया। पर मुझे इस आजादी से क्या दिलचस्पी ? मैंने छुट्टी मनायी और दिन भर लेटा 'डॉन' और 'पाकिस्तान टाइम्स' पढ़ता रहा। दोनों में हिन्दुस्तान की इस नाम-मात्र की आजादी की धज्जियाँ उड़ा दी गयी थीं और साबित कर दिया गया था कि किस तरह हिन्दुओं और अँग्रेजों ने मिल कर मुसलमानों का खातमा करने का षड्यन्त्र रचा था। वह तो हमारे 'क़ायदे आजम' का काम था कि पाकिस्तान लेकर ही रहे। अँग्रेजों ने हिन्दुओं और सिक्खों के दबाव में आकर, अमृतसर को हिन्दुस्तान के हवाले कर दिया, हालाँकि दुनिया जानती है कि अमृतसर खालिस इस्लामी शहर है। और यहाँ की सुनहरी मसजिद जो 'गोल्डेन मॉस्क' के नाम से दुनिया में मशहूर है . नहीं, वह तो गुरुद्वारा है और 'गोल्डेन टेम्पिल' कहलाता है। सुनहरी मसजिद तो दिल्ली में है। सुनहरी मसजिद ही नहीं, जामा मसजिद भी है। दिल्ली में लाल किला है, निजामुद्दीन औलिया का मजार है, हुमायूँ का मकबरा है, सफदरजंग का मदरसा है। सारांश यह कि यहाँ के चप्पे-चप्पे पर इस्लामी हुकूमत के निशान पाये जाते हैं। फिर भी आज इसी दिल्ली, बल्कि कहना चाहिए शाहजहानाबाद

पर हिन्दू साम्राज्य का झंडा लहराया जा रहा है... और यह सोच कर मेरा दिल भर आया कि दिल्ली, जो कभी मुसलमानों की राजधानी थी, इस्लामी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र थी, हमसे छीन ली गयी और हमें पच्छिमी पंजाब और सिंध, बलोचिस्तान जैसे उजड्ड और असभ्य इलाकों में जबरदस्ती भेजा जा रहा है, जहाँ किसी को सही उर्दू बोलनी नहीं आती, जहाँ शलवार-जैसा हास्यास्पद लिबास पहना जाता है, जहाँ पाव भर में हलकी फुलकी बीस चपातियों की जगह दो-दो सेर की रोटियाँ खायी जाती है। फिर मैंने अपने दिल को मजबूत करके समझाया कि क़ायदेआज़म और पाकिस्तान की ख़ातिर यह कुर्बानी तो हमें करनी ही होगी। फिर भी दिल्ली को छोड़ने के ख्याल से ही दिल मुर्झाया रहा।

शाम को जब मैं बाहर निकला और सरदारजी ने दाँत निकाल कर कहा, "क्यों बाबूजी, आज तुमने कुछ खुशी नहीं मनायी ?" तो मेरे जी में आया कि उसकी दाढ़ी में आग लगा दूं।

हिन्दुस्तान की आजादी और दिल्ली में सिक्खाशाही आखिर रंग लाकर रही। अब पच्छिमी पंजाब से आये हुए शरणार्थियों की संख्या हजारों से लाखों तक पहुँच गयी थी। ये लोग दरअसल पाकिस्तान को बदनाम करने के लिए अपने घर-बार छोड़ कर वहाँ से भाग आये थे। यहाँ आकर गली-कूचों में अपना रोना रोते फिरते थे। कांग्रेस का प्रोपेगेण्डा मुसलमानों के ख़िलाफ़ जोरों पर चल रहा था। और इस बार कांग्रेसियों की चाल यह चली थी कि वे बजाय कांग्रेस का नाम लेने के राष्ट्रीय-स्वयं सेवक-संघ और शहीदी दल के नाम से काम कर रहे थे। दुनिया जानती है कि ये हिन्दू चाहे कांग्रेसी हों, या महासभाई, सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, चाहे दुनिया को धोखा देने के लिए वे प्रकट रूप में गांधी और जवाहर लाल नेहरू को गालियाँ ही क्यों न देते हों।

एक दिन सुबह को खबर आयी कि दिल्ली में कत्लेआम शुरू हो गया है करोलबाग में मुसलमानों के सैकड़ों घर फूक दिये गये। चाँदनी चौक में मुसलमानों की दूकानें लुट गयीं और हजारों का सफाया हो गया। यह था कांग्रेस के हिन्दू राज्य का नमूना। खैर, मैंने सोचा "नयी दिल्ली तो मुद्दत से अँग्रेजों का शहर रहा है। लार्ड माउंटबैटन यहाँ रहते हैं। कमाण्डर-इन-चीफ यहाँ रहता है। कम से-कम यहाँ वे मुसलमानों के साथ ऐसा जुल्म न होने देंगे।" यह सोच कर मैं दफ्तर की ओर चला। उस दिन मुझे प्राविडेन्ट फंड का हिसाब करना था और दरअसल मैंने इसीलिए पाकिस्तान जाने में देर की थी। अभी गोल मार्केट के पास ही पहुँचा था कि दफ्तर का एक हिन्दू बाबू मिला। उसने कहा—"यह क्या कर रहे हो? जाओ, वापस जाओ। बाहर न निकलना। कनाट प्लेस में बलवाई मुसलमानों को मार रहे हैं।"

मैं वापस भाग आया। अपने स्क्वायर में पहुँचा ही था कि सरदारजी से मुठभेड़ हो गयी। कहने लगे—"शेख जी, फिकर न करना। जब तक हम सलामत हैं, तुम्हें कोई हाथ नहीं लगा सकता।"

मैंने सोचा कि 'इसकी दाढ़ी के पीछे कितनी मक्कारी छिपी हुई है। मन में तो खुश है कि चलो, अच्छा हुआ। मुसलमानों का तो सफाया हो रहा है, पर जबानी हमदर्दी जता कर मुझ पर एहसान कर रहा है। बल्कि शायद मुझे चिढ़ाने के लिए ऐसा कर रहा है, क्योंकि सारे स्क्वायर में बल्कि सारी सड़क पर मैं अकेला मुसलमान हूँ। पर मुझे इन काफिरों की दया और मेहरबानी नहीं चाहिए।'

यह सोच कर, मैं अपने क्वार्टर में आ गया कि 'मैं मारा भी जाऊंगा, तो दस-बीस को मारकर।' सीधे अपने कमरे में गया, जहाँ पलंग के नीचे मेरी दोनाली शिकारी बन्दूक रक्खी थी। जब से दंगे शुरू हुए थे, मैंने कारतूस और गोलियों का भी काफी स्टाक जमा कर रक्खा

था। पर वहाँ बन्दूक न मिली। सारा घर छान मारा, पर उसका कहीं पता न चला।

"क्यों, हुजूर, क्या ढूँढ रहे हैं आप?" यह मेरा वफादार नौकर मुहमदू था।

"मेरी बन्दूक क्या हुई?" मैंने पूछा।

उसने कोई जवाब न दिया। पर उसके चेहरे से साफ जाहिर था कि उसे मालूम है। शायद उसने कहीं छिपायी है, या चुरायी है।

"बोलता क्यों नहीं?" मैंने डाँट कर कहा।

तब असल हाल मालूम हुआ कि मुहमदू ने मेरी बन्दूक चुरा कर अपने कुछ दोस्तों को दे दी थी, जो दरियागज में मुसलमानों की रक्षा के लिए हथियार जमा कर रहे थे।

"कई सौ बन्दूकें हैं, सरकार, हमारे पास। तीन मशीनगनें, दस रिवाल्वर और एक तोप भी है। काफिरों को भून कर रख देंगे, भून कर।"

मैंने कहा—"दरियागज में मेरी बन्दूक से काफिरों को भून दिया गया तो इससे मेरी हिफाजत कैसे होगी? मैं तो यहाँ निहत्था काफिरों में घिरा हुआ हूँ। यहाँ मुझे भून दिया गया तो कौन जिम्मेदार होगा?"

फिर मैंने मुहमदू से कहा कि वह किसी तरह छिपता-छिपाता दरियागज तक जाय और वहाँ से मेरी बन्दूक और सौ-दो सौ कारतूस ले आये। वह चला तो गया, पर मुझे यकीन था कि अब वह लौट कर न आयेगा।

अब मैं घर में बिलकुल अकेला रह गया था। सामने कार्निस पर मेरी पत्नी और बच्चों की तसवीरें खामोशी से मुझे घूर रही थीं। यह सोच कर मेरी आँखों में आँसू आ गये कि अब इनसे कभी मुलाकात

होगी भी या नहीं। लेकिन फिर यह सोच कर संतोष भी हुआ कि कम-से-कम वे तो खैरियत से पाकिस्तान पहुँच गये थे। काश, मैंने प्राविडेंट फंड का लालच न किया होता और पहले ही चला गया होता। पर अब पछताने से क्या हो सकता था?

"सत् श्री अकाल!"

"हर हर महादेव!"

दूर से आवाजें करीब आ रही थीं। ये दंगाई थे। ये मेरी मौत के हरकारे थे। मैंने घायल हरिण की तरह इधर-उधर देखा, जो गोली खा चुका हो और जिसके पीछे शिकारी कुत्ते लगे हों। बचाव की कोई सूरत न थी। क्वार्टर के किवाड़ पतली लकड़ी के थे और उनमें शीशे लगे हुए थे। अगर मैं बंद होकर बैठ भी रहा तो दो मिनट में दंगाई किवाड़ तोड़ कर अंदर आ सकते थे।

"सत् श्री अकाल!"

"हर हर महादेव!"

आवाजें और करीब आ रही थीं। मेरी मौत करीब आ रही थी।

इतने में दरवाजे पर दस्तक हुई। सरदार जी अंदर आये और बोले—"शेखजी, तुम हमारे क्वार्टर में आ जाओ! जल्दी करो!"

बिना सोचे-समझे अगले क्षण मैं सरदार जी के बरामदे की चिकों के पीछे था। मौत की गोली सन से मेरे सिर पर से गुजर गयी, क्योंकि मैं वहाँ गया ही था कि एक लारी आकर रुकी और उसमें से दस-पन्द्रह नौजवान उतरे। उनके नेता के हाथ में एक टाइप की हुई लिस्ट थी।

"क्वार्टर नं० ८, शेख बुर्हानुद्दीन!" उसने कागज पर नजर डालते हुए हुक्म दिया और यह गोल-का-गोल मेरे क्वार्टर पर टूट पड़ा। मेरी गृहस्थी की दुनिया मेरी आँखों के सामने उजड़ गयी, लुट

गयी। कुर्सियाँ, मेज, सन्दूक, तसवीरें किताबें, दरियाँ, कालीन, यहाँ तक कि मेरे कपड़े—हर चीज लारी पर पहुँचा दी गयी।

डाकू! लुटेरे! कज्ज़ाक!

और ये सरदार जी, जो प्रकट में हमदर्दी जता कर मुझे ले आये थे, कौन कम लुटेरे थे? बाहर जाकर, दगाइयों से कहने लगे—"ठहरिए, साहब! इस घर पर हमारा हक ज्यादा है। हमें भी इस लूट में हिस्सा मिलना चाहिए।" और यह कह कर, उन्होंने अपने बेटे और बेटी को इशारा किया। और वे भी लूट में शामिल हो गये। कोई मेरी पतलून उठाये चला आ रहा था, कोई सूटकेस, कोई मेरी पत्नी और बच्चों की तसवीरें भी ला रहा था। और यह सब लूट का माल सीधे अन्दर के कमरे में जा रहा था।

'अच्छा, रे सरदार! जिन्दा रहा तो तुझसे भी समझूँगा!' पर इस वक्त तो मैं चूँ भी न कर सकता था, क्योंकि दगाई, जो सब-के-सब हथियारों से लैस थे, मुझसे कुछ ही गज के फासले पर थे। 'अगर इन्हें कहीं यह मालूम हो गया कि मैं यहाँ हूँ... .. .'

"जरा अन्दर आओ जी, तुसीं।"

एकाएक मैंने देखा कि सरदार जी हाथ में नंगी कृपाण लिये मुझे अंदर बुला रहे हैं। मैंने एक बार उसी दढ़ियल चेहरे को देखा, जो लूट-मार की भाग-दौड़ से और भी भयानक हो गया था और फिर कृपाण को, जिसकी चमकीली धार मुझे मौत का निमंत्रण दे रही थी। बहस करने का मौका नहीं था। अगर मैं कुछ भी बोला और दगाइयों ने सुन लिया तो अभी गोली मेरे सीने के पार होगी। कृपाण और बंदूक में से एक को पसंद करना था। मैंने सोचा, इन दस बंदूकबाज दगाइयों से कृपाण वाला बूढ़ा अच्छा है। मैं कमरे में चला गया, झिझकता हुआ, खामोश।

"इत्थे नहीं जी, उस कमरे-च आओ !"

मैं और अंदर के कमरे में चला गया, जैसे बकरा कसाई के साथ बूचड़खाने में जाता है। मेरी आँखें कृपाण की धार से चौंधियाई जा रही थीं।

"यह लो, जी, अपनी चीज़ें सँभाल लो !" यह कह कर, सरदार जी ने वह सारा सामान मेरे सामने रख दिया, जो उन्होंने और उनके बच्चों ने लूट में हासिल किया था।

सरदारनी बोलीं—"बेटा, हम तो तेरा कुछ भी सामान न बचा सके !"

मैं कोई जवाब न दे सका।

इतने में बाहर से कुछ ऊँची आवाज़ें सुनायी दीं। दंगाई मेरी लोहे की अलमारी को बाहर निकाल रहे थे और उसको तोड़ने की कोशिश कर रहे थे।

"इसकी चाभियाँ मिल जातीं तो सब मामला आसान हो जाता।"

"चाभियाँ तो इसकी पाकिस्तान में मिलेंगी। भाग गया न ! डरपोक कहीं का ! मुसलमान का बच्चा था तो मुकाबिला करता !"

नन्हीं मोहिनी मेरी पत्नी के कुछ रेशमी कपड़े बलवाइयों से छीन कर ला रही थी कि उसने यह सुना। वह बोली—"तुम बड़े बहादुर हो ! शेखजी डरपोक क्यों होने लगे ? वह तो पाकिस्तान नहीं गये !"

"नहीं गया तो यहाँ से कहीं मुँह काला कर गया ?"

"मुँह काला क्यों करते ? वह तो हमारे . . ."

मेरे हृदय की गति एक क्षण के लिए बंद हो गयी। बच्ची अपनी भूल का अनुभव करते ही चुप हो गयी। पर उन दंगाइयों के लिए यही काफी था।

सरदारजी पर जैसे खून सवार हो गया। उन्होंने मुझे अंदर के कमरे

में बंद करके कुंडी लगा दी। अपने बेटे के हाथ में कृपाण दी और खुद बाहर निकल गये। बाहर क्या हुआ, मुझे यह ठीक तरह मालूम न हुआ। थप्पड़ों की आवाज, फिर मोहिनी के रोने की आवाज़ और इसके बाद सरदारजी की ऊँची आवाज़। पंजाबी गालियाँ। कुछ समझ में न आया कि किसे गाली दे रहे हैं और क्यों। मैं चारों तरफ से बंद था, इसलिए ठीक सुनायी नहीं देता था।

और फिर गोली चलने की आवाज़। सरदारनी की चीख।

लारी के जाने की गड़गड़ाहट और फिर सारे स्क्वायर पर जैसे सन्नाटा छा गया। जब मुझे कमरे की कैद से निकाला गया तो सरदार जी पलग पर पड़े थे और उनकी छाती के पास सफेद कमीज खून से लाल हो रही थी। उनका लड़का पड़ोस के घर से डाक्टर को टेलीफोन कर रहा था।

"सरदारजी, यह आपने क्या किया?" मेरे मुँह से न जाने कैसे निकला।

मैं स्तब्ध था। मेरी वर्षों की दुनिया—विचारों, अनुभवों, घृणा और द्वेष की दुनिया—खँडहर हो चुकी थी।

"सरदारजी, आपने यह क्या किया?"

"मुझे करजा उतारना था।"

"कर्जा?"

"हाँ! तुम-जैसे ही एक मुसलमान ने अपनी जान देकर मेरी और मेरे घरवालों की जान और इज्जत बचायी थी।"

"अपनी जान देकर? मुझ-जैसे मुसलमान नौजवान ने! क्या नाम था उसका, सरदारजी?"

"गुलाम रसूल।"

गुलाम रसूल! और मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे क़िस्मत ने मेरे

साथ धोखा किया हो। दीवार पर लटके हुए क्लाक ने बारह बजाने शुरू किये।

एक, दो, तीन, चार, पाँच......

सरदारजी की निगाहें घड़ी की तरफ फिर गयीं। लगा, मानो मुस्करा रहे हों और मुझे अपने दादा याद आ गये, जिनकी कई फुट लम्बी दाढी थी। सरदारजी की शक्ल उनसे कितनी मिलती थी!

छः, सात, आठ, नौ ....

जैसे वे हँस रहे हों! उनकी सफेद दाढी और सिर के खुले हुए बालों ने चेहरे के गिर्द एक चमकदार बिम्ब-सा बना रखा था!

दस, ग्यारह, बारह!

जैसे वे कह रहे हों, "जी, असाँ दे तों चौबीसो घंटे बारह बजे रहते हैं।"

फिर वे निगाहें सदा के लिए बंद हो गयीं।

और मेरे कानों में गुलाम रसूल की आवाज दूर, बहुत दूर से आयी, 'मैं कहता था न कि बारह बजे इन सिक्खों की अक्ल ग़ायब हो जाती है और यह कोई-न-कोई हिमाकत कर बैठते हैं! अब इन सरदारजी को ही देखो—एक मुसलमान के लिए अपनी जान दे दी!

पर ये सरदार जी नहीं मरे थे, "मैं" मरा था--पुराना "मैं।"

—०—

जागते रहो

रात के सन्नाटे मे दूर थाने के घड़ियाल ने बारह बजाये।

सेठ जी ने अहाते का लोहे का फाटक अपने हाथ से बन्द किया अपने हाथ से ताला लगाया, ताले को तीन बार खींच कर, हिला कर, झटका देकर यकीन किया कि कुंजी फिराने में कोई भूल नहीं हुई। फिर अहाते की छः फुट ऊँची दीवार पर नजर पड़ी, जिस पर कांच के नोकीले टुकड़ों की बाट लगी हुई थी। इस तरफ से किसी का आना सम्भव नहीं था। फिर चौकीदार की ओर घूमे, जो ओवर कोट पहने, एक हाथ में डण्डा और दूसरे में लालटेन लिये, कील-कॉटे से लैस खड़ा था। बोले—"क्यों, जग्गू, सब ठीक-ठाक है न ?"

नित्य रात को बारह बजे वे सदा यही सवाल करते थे और जग्गू सदा यही जवाब देता था—"तुम फिकर न करो, सेठ जी। जब तक जग्गू के दम-में-दम है, कोई परिन्दा भी दम नहीं मार सकता।'

सेठ जी ने जग्गू के चेहरे की तरफ आँख उठा कर एक दफा के

लिए देता। यह पुरविया सचमुच का पहलवान था। कद कुछ फुट से भी निकलता हुआ, बड़ी-बड़ी भयानक मूँछें, काले-काले चेहरे पर छोटी, चमकीली आँखें, जिनमें भंग के हल्के नशे से लाल डोरे पड़े रहते थे। फिर सेठ जी ने सन्तुष्ट दृष्टि से जग्गू की लम्बी लाठी को देखा, जिसको वह रोज प्यार से तेल पिलाया करता था और जिसके दोनों सिरों पर छः-छः इंच तक लोहा चढ़ा हुआ था। भला किस चोर-डाकू की हिम्मत थी कि जग्गू का सामना करे ?

पर अन्दर जाते-जाते एक भयानक सन्देह ने सेठ जी के मन में चुटकी ली, 'और यदि कहीं यह जग्गू ही डाकू बन जाय ?' यह भयानक सन्देह भी नित्य रात को इसी समय चुटकी लेता था, पर सेठ जी ने इसका भी प्रबन्ध कर रक्खा था। जग्गू को अहाते का पहरा देने के लिए बाहर छोड़ कर वे मकान में दाखिल हुए और दरवाजा बन्द करके उसमें चाभी घुमा दी। अब न केवल जग्गू ही इस कमरे में न आ सकता था, बल्कि वह मनहूस किरायेदार, जो नीचे के भाग में जमा हुआ था और किसी प्रकार मकान छोड़ने पर राजी न था, वह भी रात को बाहर न जा सकता था। सेठ जी को सन्देह नहीं, बल्कि पूर्ण विश्वास था कि यह अभागा किसी विशेष और भयानक उद्देश्य से वहाँ डटा हुआ है। नहीं तो कानूनी धमकियों के अतिरिक्त उन्होंने उसे दो हजार नकद का भी लालच दिया था कि किसी तरह वह उनका मकान खाली कर दे, ताकि नीचे से ऊपर तक वहाँ केवल सेठ जी और उनका परिवार रहे और किसी प्रकार की चिन्ता या डर बाकी न रहे। किन्तु वह ।। अब तक वहाँ से हिलने का नाम ही न लेता था और अदालत भी उसी के पक्ष में निर्णय कर दिया था। सेठ जी जब कभी ऊपर नीचे आते-जाते, नीचे के भाग से गुजरते और दरवाजे पर 'कुन्दन लाल जर्नलिस्ट' का बोर्ड लगा देखते तो वे अदालत, मजिस्ट्रेट, सरकार, सभी

को मन-ही-मन कोसते। दुष्ट कहीं के, किरायेदारों को यह अधिकार दे रक्खा है कि वे मकान-मालिक की छाती पर मूँग दलते रहें!

सेठ जी को इस कुन्दनलाल के जर्नलिस्ट होने में भी सन्देह था। क्योंकि वह किसी दफ्तर-दफ्तर में काम नहीं करता था, बल्कि घर बैठे ही टाइप राइटर पर खटर-पटर किया करता था। शायद यह सब एक ढोंग ही था वहाँ रहने के लिए। और कौन जानता है, यह दुबला-पतला युवक डाकुओं की किसी टोली से मिला हुआ हो और उसके द्वारा वे सेठ जी की दौलत पर हमला करने वाले हों। यदि वह सचमुच जर्नलिस्ट ही हो, तो भी खतरे से खाली नहीं था। सेठ जी की निगाह में जर्नलिस्ट और डाकू में कोई ख़ास फर्क नहीं था, क्योंकि दोनों पैसे वालों और सेठों के दुश्मन थे और उनके धन को हड़प कर जाना चाहते थे। कितने अखबार तो बस काम ही यह करते थे कि शरीफ सेठों की पगड़ी उछालें। अगर इस बदमाश को पता चल गया कि सेठ जी के कमरे की तिजोरी में साढे तीन करोड़ रुपया नकद रक्खा है, तो क्या पता किसी पत्र में छपवा दे और सरकार इनकम-टेक्स लगा दे या ब्लैक मार्केट का इलजाम लगा कर मुकदमा चला दे। आज-कल किसी का भी तो विश्वास नहीं था। इसी सरकार को चुनाव में जिताने के लिए सेठ जी ने पचास हजार रुपये चन्दे में दिये, पर कौन जानता है, कब इन सोशलिस्टों-कम्युनिस्टों के प्रचार के प्रभाव में आकर अच्छे-खासे समझदार मिनिस्टर भी सेठों की तिजोरियों के पीछे पड़ जायें।

इसके अतिरिक्त इस कुन्दन लाल जर्नलिस्ट के यहाँ कुछ बड़े ही संदिग्ध किस्म के नौजवान आया-जाया करते थे। लम्बे-लम्बे बाल, दाढ़ियाँ बढ़ी हुई। कोई चप्पल पर खाकी पतलून पहने है, तो कोई खद्दर का मैला कुरता-पाजामा पहने चला आ रहा है। यह लड़के गुण्डे नहीं तो कम-से-कम कम्युनिस्ट जरूर थे। इनमें से

कई तो कभी-कभी रात भी कुन्दन लाल के यहाँ बिताते थे। रात-रात भर न जाने क्या औंधी-सीधी बातें करते, ठट्ठे लगाते, गाते, चाय पीते और सिगरट फूकते। आज भी कुछ ऐसा ही हिसाब चल रहा था। सेठ जी ने दरवाजे से कान लगाते हुए सोचा, 'सुनूँ तो यह लोग क्या खिचड़ी पका रहे हैं।' सुना, तो सुन रह गये। कुन्दन लाल का कोई मित्र कह रहा था—"अरे, कभी सीधी उँगलियों से भी घी निकला है! इन सेठों के जब तक टेंटुए न दबाये जायेंगे, इन तिजोरियों से रुपया नहीं निकल सकता।" सेठ जी को ऐसा लगा, मानो उनके टेंटुए को किसी ने आ दबोचा हो। वे तुरन्त दरवाजे से अलग हो कर ज़ीने की ओर लपके।

'अच्छा हुआ, मैंने यह लोहे का जंगला और दरवाजा ज़ीने में लगवा दिया है।' सेठ जी ने ताला लगाते हुए सोचा, 'नहीं तो किसी रात को ये गुण्डे ज़रूर धम-धम करते हुए ऊपर चढ़ आते। अब तो आकर देखें। दुष्ट, कमीने कहीं के! इस ताले या दरवाजे को हाथ तो लगायें...' यह सोच कर वे आप ही आप मुस्कराये और बिजली का बटन दबा दिया, जिससे लोहे के जंगले, दरवाजे और ताले सब में बिजली दौड़ गयी। 'अब यदि कोई हाथ लगायेगा तो सारे घर में घंटियाँ बजने लगेंगी और हाथ लगाने वाला बिजली के झटके से मारा जायगा।' यह तरकीब सेठ जी के छोटे बेटे मुन्नू ने सोची थी, जो मैट्रिक तक पढ़ा हुआ था और अँग्रेजी जासूसी उपन्यास पढ़ा करता था, जिसमें वह चोरों-डाकुओं के सब हथकंडों को जान जाय और अपने पिता के धन की रक्षा भली-भाँति कर सके। अपने छोटे बेटे की प्रतिभा पर कितना गर्व था उन्हें!

ज़ीने पर ताला लगाकर अब वे दूसरी मंजिल पर पहुँचे। यहाँ उनका बड़ा बेटा उसकी पत्नी और बच्चे और घर के सारे नौकर-चाकर रहते थे। नौकर सब पुराने और विश्वसनीय थे, किन्तु फिर भी साढ़े तीन

करोड़ रुपया किसी के मन में भी बेईमानी डाल सकता था। इस मामले में और तो और सेठ जी को स्वयं अपने बड़े बेटे पर विश्वास न था। कारण यह था कि उसकी पत्नी बड़ी फजूल-खर्च और फैशन की दीवानी थी। उसने अपने पति को क्लब, रेस और न जाने कहाँ-कहाँ रुपया खोने की आदतें डलवा दी थीं। कौन जानता है कि वह इस फिक्र में हो कि कब बूढ़े का दम निकले और वह पौने दो करोड़ पर कब्जा कर बैठे। इसीलिए सेठ जी ने दूसरी और तीसरी मंजिल के बीच के जीने में भी एक लोहे का जंगला और दरवाज़ा लगवा रक्खा था। उसमें ताला लगा कर ही उनको पूरी शान्ति से नींद आती थी।

सेठ जी की पत्नी बेचारी का कब का देहान्त हो चुका था। उसकी याद सेठ जी को अक्सर सताती और वे सोचते, 'रुपये और नोट गिनने में कितनी होशियार थी वह! मिनटों में लाखों की गड्डियों और थैलियों की पड़ताल कर डालती थी। मुझे तो घंटों लग जाते हैं। काश! आज वह जीवित होती।' ऊपर की मंजिल में अब वे और उनका बेटा मुन्नू ये दो ही रहते थे। यहाँ नौकरों को जाने की आज्ञा न थी। सिवाय मुन्नू के सेठ जी को किसी पर पूरा भरोसा ही न था। इसीलिए उसे बराबर का कमरा दे रक्खा था। उस समय अपने कमरे में जाने के लिए मुन्नू के कमरे में से गुजरे तो देखा, वह चैन से सो रहा था। गले में सेठ जी जैसी ही सोने की जंजीर पड़ी थी और दायें हाथ की बीच की उँगली मे हीरे की अँगूठी जगमगा रही थी, जो पिछली दीवाली पर सेठ जी ने बनवा कर उसे दी थी, नालायक बड़े बेटे को नहीं, सिर्फ अपने चहेते मुन्नू को। उसे देख कर सेठ जी का मन कितना सुखी, कितना प्रसन्न हो गया! बड़ा बेटा तो दो-चार वर्ष में ही सारा धन लुटा देगा, किन्तु मुन्नू उनका नाम रौशन करेगा। पौने दो करोड़ के तीन करोड़ बनायेगा। बचपन ही से उसमें पिता के पद-चिन्हों पर चलने की लगन

थी। स्कूल में पढ़ता तो अठन्नी रोज का जेब-खर्च बचा कर रखता। फिर उसमें से महीने के अन्त में एक-एक रुपया दो-दो रुपया, अपने साथियों को उधार देता। हफ्ते भर के बाद रुपये के डेढ़ रुपये और दो रुपये के तीन रुपये वसूल करता। जब स्कूल छोड़ा तो नौ सौ रुपये अपने जमा थे। तब से वह पिता के कारबार के अतिरिक्त अपना रुपया सूद पर अलग भी चलाता था। उसके एजन्ट ब्लैक मार्केट के सिगरेटों के डिब्बे, फाउन्टेन पेन, घड़ियाँ घर-घर लिये फिरते और दुगने-तिगुने दामों म बेचते। पिता ने दोनों बेटों को मोटरें लेकर दी थीं। बड़ा बेटा सदा चोर बाजार के कूपन खरीद कर पैट्रोल का खर्च पूरा करता, पर मुन्नू की मोटर महीने में एकाध बार ही बाहर निकलती और पेट्रोल के सारे कूपन ब्लैक मार्केट में बिकते और कभी-कभी ब्लैक मार्केट से होते हुए बड़े भाई के पास जाते। एक बार बड़े भाई ने मोटर में पेट्रोल खत्म होने पर मुन्नू से एक कूपन माँग लिया तो उसने तुरन्त ब्लैक मार्केट की नकद कीमत माँगी और बिना वसूल किये हुए कूपन न दिया। इन्हीं बातों से सेठ जी को विश्वास हो गया था कि उनका सच्चा उत्तराधिकारी मुन्नू ही होगा। होनहार, सुयोग पुत्र भी कितनी बड़ी देन है भगवान की! यह सोचते हुए सेठ जी अपने कमरे में गये। बत्ती जलायी, नित्य की भाँति पलग के नीचे, अलमारी के पीछे, पर्दों को हटा कर देखा। [illegible]संतोष हो गया कि कोई चोर-डाकू कहीं छिपा नहीं है, तब तिजोरी [illegible], नोटों के गड्डों और रुपयों की थैलियों का निरीक्षण किया, फिर [illegible]जोरी बन्द करके, कमरे की खिड़कियाँ खोलीं।

"जागते रहो!"

जग्गू चौकीदार का भारी स्वर हवा में गूँजा। फिर लोहे की मोटी कीलें लगे हुए उस के जूतों के पत्थर के फर्श पर चलने की खट-खट, लाठी के लोहा जड़े सिरे के जमीन पर पडने की झनकार, जग्गू की

रोबदार खूँखार, जिसको सुन कर ही चोर भाग जाय और मकान का चक्कर पूरा होने पर एक बार फिर—

"जागते रहो !"

सेठ जी ने सन्तोष की साँस ली और रोशनी बुझा कर पलग पर लेट गये। जब तक जग्गू का 'जागते रहो' का नारा सुनायी देता रहे, उनको कोई चिन्ता न थी। इतमीनान था कि जग्गू जाग रहा है, चोरों-डाकुओं को भी पता है कि जग्गू जाग रहा है और उनका सिर फोड़ने को तैयार है। इसके अतिरिक्त यह भी सन्तोष था कि जग्गू अपनी ड्यूटी छोड़ कर स्वयं डाका डालने की फिक्र नहीं कर रहा है। सेठ जी के कई मित्रों ने उनका मजाक उड़ाया था कि चौकीदार से यह पुराने ढंग का 'जागते रहो', 'जागते रहो' का नारा लगवाने से क्या फायदा ! अगर जागते ही रहना है तो चौकीदार रखने से क्या लाभ ?' और सेठ जी मुस्करा कर चुप हो गये थे। इन लोगों को क्या पता कि यह 'जागते रहो' की पुकार सेठ जी के लिए लोरी का काम देती थी। जब तक जग्गू का स्वर ठीक समय से आता रहे, सेठ जी खर्राटे लेते रहेंगे, किन्तु एक बार भी जग्गू ने अपने समय से अधिक चुप साधी और दो-तीन मिनट तक 'जागते रहो' की आवाज न आयी तो वे हड़बड़ा कर उठ बैठे।

"क्या, जग्गू, सो गया क्या ?"

"नहीं, सेठ जी, चिलम भर रहा था," नीचे से आवाज आती और फिर 'जागते रहो' 'जागते रहो' की आवाजें आने लगतीं और सेठ जी को नींद आ जाती।

आज की रात भी जग्गू की लोरी सुनते-सुनते सेठ जी को नींद आ गयी। रात को सोते समय वे चाभियों का गुच्छा अपने गले में पड़ी हुई सोने की जंजीर में डाल लेते थे और सोते समय भी उनका हाथ

जंजीर पर रहता कि कोई छुए भी तो तुरन्त आँख खुल जाय।

"जागते रहो!"

"जागते रहो!"

जग्गू की आवाज़ बराबर समय-समय पर आती रही और सेठ जी नींद के धारा में बह गये। पर आज उन्हें सुख की नींद न आयी। बराबर डरावने स्वप्न दिखायी देते रहे। कभी जग्गू अपनी भारी लाठी लिये उनकी ओर लाल-लाल आँखों से घूर रहा है, कभी वह कुन्दन लाल जर्नलिस्ट और उसके दोस्त लाल-लाल झण्डे लिये बढ़ते चले आ रहे हैं और चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं—"इन सेठों के टेंटुए दबाओ, तभी इनकी तिजोरियों से रुपया निकलेगा, इनके टेंटुए दबाओ टेंटुए...दबाओ " और किसी के ठण्डे हाथों ने सचमुच उनका टेंटुआ पकड़ लिया।

घबरा कर सेठ जी की आँख खुल गयी। उनका शरीर मारे भय के पसीने में शराबोर हो रहा था।

"जागते रहो!"

जग्गू की आवाज़ आयी और तब सेठ जी को सन्तोष हुआ कि उन्होंने सिर्फ डरावना स्वप्न देखा है। शायद अनजाने में सोने की जंजीर हाथ से खिंच गयी थी और स्वप्न में उसका सुनहरा हलका किसी हत्यारे की ठण्डी उँगलियाँ बन गया था।

"जागते रहो!"

जग्गू की आवाज़ आती रही और अँधेरे कमरे में लेटे हुए सेठ जी अपने मन को सन्तुष्ट करने के लिए अपने समस्त प्रबन्धों की सूची दोहराते रहे, जो अपने साढ़े तीन करोड़ की रक्षा के लिए उन्होंने कर रक्खे थे—

"जग्गू जाग रहा है और 'जागते रहो' के नारे लगा रहा है।"

"जग्गू के मजबूत हाथों में एक लम्बी लाठी है, जिसके दोनों सिरों पर लोहा जुड़ा हुआ है। उसका एक वार किसी का सिर फोड़ने के लिए काफी है।'

"अहाते की दीवार के ऊपर नोकीले काँच के टुकड़े लगे हुए हैं। कोई चढ़ने की चेष्टा भी करेगा, तो उसके हाथ-पाँव लहू-लोहान हो जाएँगे।'

"अहाते के फाटक पर मजबूत ताला लगा हुआ है।"

"मकान के दरवाजे में ताला लगा हुआ है।"

"निचले जीने में लोहे का जंगला लगा हुआ है और लोहे के दरवाजे पर ताला पड़ा है, और इन सब में बिजली दौड़ी हुई है। किसी ने हाथ भी लगाया तो सारे मकान में घंटियाँ बजने लगेंगी और वह दुष्ट तो वहीं जल कर ढेर हो जायगा। वह कुन्दन लाल के बदमाश दोस्त हाथ लगा कर तो देखें।"

"दूसरी मंजिल पर भी जीने में लोहे का जंगला और दरवाजा लगा हुआ है। यदि बड़े लड़के की नीयत खराब हो भी तो वह ऊपर नहीं आ सकता।'

"तिजोरी में तीन ताले पड़े हुए हैं। चाभियों का गुच्छा इस सोने की जंजीर में पड़ा है, जंजीर मेरे गले में है।"

"मेरा जवान बेटा मुन्नू बराबर के कमरे में सो रहा है। एक आवाज भी दूँ तो तुरन्त अपना पिस्तौल लेकर आ जायगा और कोई चोर-डाकू यदि हुआ तो उसे गोली से उड़ा देगा भला मुन्नू के होते मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है!"

"जागते रहो!"

जग्गू की पुकार इस बात की जमानत थी कि सेठ जी का रुपया सुरक्षित है। उन्हें कोई चिन्ता न होनी चाहिए।

'जागते रहो !' की लोरी सुनते-सुनते एक वार वे फिर नींद के नर्म धारे में वह गये।

"जागते रहो !"

"जागते रहो !"

जग्गू की आवाज़ मानो उनके मस्तिष्क के पिछले फाटक पर हौले-हौले दस्तक दे रही थी। उनको जगाने का यत्न कर रही थी। उनको खतरे से अगाह कर रही थी .

ठण्डी उँगलियाँ '

फिर वही डरावना स्वप्न ! .....

"यह जजीर मेरे गले पर से सरकी या यह भी स्वप्न है .. ?"

"यह जजीर इतनी तग क्यों हो गयी ? या शायद करवट लेने में कहीं दब गयी है ? या शायद कोई जजीर को धीरे-धीरे मरोड़ कर मेरा गला घोंट रहा है . .."

"मेरा गला !"

"मुन्नू ! बेटा मुन्नू !" सेठ जी ने चिल्लाना चाहा। पर गले से आवाज न निकली। सोने की पतली जजीर अब गले में गड़ती जा रही थी।

"जागते रहो !"

जग्गू की आवाज़ पूरे जोर से गूजी, किन्तु अब क्या लाभ ? अब गला घुट कर दम निकलने में कुछ ही क्षणों की देर थी।

"इन सेठों के टेंटुए जब तक न दवाये जायंगे, इनकी तिजोरियों से रुपया नहीं निकल सकता !" कुन्दन लाल के मित्र के शब्द सेठ जी के कानों में गूजे। किन्तु ये बदमाश ऊपर आये कैसे ? यदि जीने का द्वार तोड़ा होता, तो घटियाँ अवश्य बजतीं। बिजली भी फेल हो गयी होती तो आवाज़ होती।

"यह जग्गू क्या कर रहा है !"

"जागते रहो !" खिड़की के ठीक नीचे से जग्गू की आवाज आयी।

'जागते रहो,' 'जागते रहो,' चिल्ला रहा है और यहाँ कोई शैतान मेरा गला घोंट रहा है और वह भी मेरी ही सोने की जंजीर से . "

"साढे तीन करोड़ रुपया कितने परिश्रम से मैंने जमा किया था ! चालीस वर्ष तक सूद-दर-सूद का चक्कर चलाया, कम्पनियाँ खड़ी कीं, उनका दिवाला निकाला, अकाल के दिनों में बंगाल में चावल का व्यापार किया। युद्ध हुआ तो सरकारी ठेके लिये, घूस दी, राष्ट्रीय कार्यों में दान दिया, ब्लैक मार्केट में कपड़ा, अन्न, पेट्रोल बेचा। सोने, चाँदी का सट्टा किया . ..तब जाकर साढे तीन करोड़ जमा हुए, और यह शैतान मेरा गला घोंट कर सब ले जायगा ! .. हे भगवान् ! क्या यही तुम्हारा न्याय है ?"

"मुन्नू ! मुन्नू ! काश, एक सेकेंड के लिए यह मेरा गला छोड़ दे और मैं अपने बेटे को आवाज दे सकूँ। बराबर के कमरे में ही तो है। यहाँ से चार गज भी तो नहीं है उसका पलंग। मेरा मुन्नू वहाँ सो रहा है और यहाँ उसके बाप को यह बदमाश मारे डाल रहे हैं .. "

"जागते रहो !"

जग्गू का स्वर जैसे दूर से आया।

"शायद अब दम निकलने ही वाला है . शायद कान अब जवाब दे रहे हैं . किन्तु सब तालों को क्या हुआ ? वह दीवार पर काँच के नुकीले टुकड़े ? जीने के दोनों दरवाजे ? मैंने तो कोई कसर उठा न रखी थी। यह डाकू आये, तो कैसे आये ?"

"जागते रहो !" जग्गू की आवाज बहुत दूर से आयी।

उसका दम निकलने ही वाला था। उसकी साँस बन्द हो रही थी

उसकी आँखें पथरा रही थीं। मुन्नू ! मुन्नू ! काश ! अब भी वह अपने बेटे को आवाज़ दे सके।

गर्दन में पड़ी जंजीर पर एक अन्तिम झटका पड़ा और मरने से पहले उसकी निगाहों के सामने एक चमकदार तारा बिजली की भाँति एकाएक कौंधा... .नहीं, नहीं, यह सितारा नहीं था.. किसी की उँगली में हीरे की अंगूठी थी।

और दूर...बहुत दूर मानो किसी दूसरे लोक से जग्गू की आवाज़ आयी—"जागते रहो !"

—o—

मेरे बच्चे

सूरज एक पहाड़ी के पीछे डूब गया और पहाड़ी का हरा रंग सुर्मयी से गहरा नीला होता गया। आकाश पर लालिमा फैली थी, मानो बादलों में आग लगी हुई हो। जूफी की घबराई आँखें उस ज्वालामयी दृश्य का ताब न ला सकीं। उसकी कल्पना के सामने उसका गाँव जल रहा था, उसका झोंपड़ा जल रहा था, उसका पति गफ़ूरा जल रहा था, जो अपना कुछ सामान बचाने के लिए जलते झोंपड़े में बेतहाशा भागता हुआ गया था और कभी जिन्दा न लौटा था।

बढ़ते हुए अँधेरे में उजड़े लुटे-खसोटे इंसानों का यह काफ़िला पगडन्डी-पगडन्डी पहाड़ी पर चढ़ता चला जा रहा था। जूफी को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वे अलग-अलग व्यक्ति नहीं थे, बल्कि सब मिल कर हजारों टाँगों का गोजर बन गये थे, जो पहाड़ी पर रेंगता हुआ चला जा रहा था।

चार दिन से वह अपने बच्चे को गोद में उठाये उस काफ़िले के

साथ सफर कर रही थी। दिन में सब जंगलों में, पेड़ों के नीचे या पहाड़ी के आँचल में गुफाओं के भीतर छिपे रहते ताकि दुश्मनों के हाथों गिरफ्तार न हो जायें और शाम को सूरज डूबते समय फिर सफर शुरू कर देते। चार दिन से उन्होंने कुछ नहीं खाया था। केवल पत्तों और जड़ों पर गुज़ारा किया था। अब तो कदम उठाना भी दूभर मालूम होता था। अकेली होती तो वह कभी का दम तोड़ चुकी होती। पर वह अकेली न थी। अपना अलग व्यक्तित्व खो कर वह उस काफिले का अंश बन चुकी थी। गोजर की सौ टाँगों में से एक टाँग, नदी के बहाव में पानी की एक बेहकीकत बूँद। जब तक कि काफिला चलता रहता, वह भी चलती रहती।

दूर नीचे घाटी में नदी तीव्र गति से शोर मचाती हुई बह रही थी। कहीं कोई बड़ा भारी झरना गिर रहा था, जो अँधेरे में दिखायी न पड़ता था। मगर फैले हुए सन्नाटे में उसकी आवाज़ एक भयानक ठहाके की भाँति पहाड़ियों से टकराकर गूँज रही थी। भयानक अट्टहास उसके कानों में फिर गूँजने लगे और वह डर के मारे काँप उठी।

भयानक शैतानी अट्टहास, लाल डरावनी आँखें, लोहे के पंजों जैसे कठोर ज़ालिम हाथ, जिनकी पकड़ में एक पैशाचिक शक्ति थी, जिनके स्पर्श में एक शैतानी गर्मी, जैसे पाशविक वासना का बुखार चढ़ा हो। कपड़े फटने की आवाज़, जैसे इन्सानियत की दस्तावेज़ फाड़ी जा रही हो, जैसे किसी अबोध बालक की टाँगें चीर कर दो टुकड़े किये जा रहे हो। और फिर एक चीख वायुमंडल में गूँज उठती .

उसके अपने गले से निकली हुई चीख, परन्तु स्वयं उसने उसे ऐसे सुना था, मानो वह उसकी अपनी चीख न हो, बल्कि किसी और स्त्री की चीख हो—गाँव की समस्त सतीत्व खोने वाली स्त्रियों का सम्मिलित चीत्कार हो—समस्त घायल मानवता की पुकार हो।

कबायली तूफान जूफी के गाँव को तबाह-बरबाद करता हुआ आगे बढ़ गया था। कितने ही झोंपड़े जल कर राख हो गये थे, कितने ही आग बुझ जाने के कारण अध-जले वीरान पड़े थे। सारा साज सामान लुट चुका था। स्वयं जूफी की लाज लुट चुकी थी। उसका पति मर चुका था, घर जल चुका था। जवानी की उमगें, जिन्दगी की तड़प, उसकी आँखों की चमक . सब कुछ खत्म हो चुका था। कई वर्ष हुए नदी के किनारे बाढ़ के चले जाने के बाद जूफी ने देखा था कि पानी के जोर से घास जमीन के साथ लग गयी है। मुर्दा घास, पानी, निर्मल घास, बे रंग घास? वही हालत उस खूनी तूफान के गुजर जाने के बाद जूफी की हुई थी। वह जीवित रहना न चाहती थी। उसने सोचा जितनी जल्दी मर जाऊँ, उतना ही अच्छा है।

और फिर उसे अपना बच्चा याद आया। डेढ़ वर्ष की नन्हीं-सी जान, जिसे उसने फूस के एक ढेर मे छिपा दिया था, जहाँ उन नर पिशाचों की निगाहें उस पर न पड़ सकें। यद्यपि उस की टाँगों में चलने की ताकत नहीं थी, फिर भी अपने शरीर को किसी-न-किसी तरह घसीटती हुई वह उस फूस के ढेर तक पहुँची। कुछ पल लगे होंगे, पर वे पल प्रतीक्षा और आशा-निराशा के कई वर्षों से कम न थे। बच्चा जिन्दा है? बच्चा मर गया? उसने तय कर लिया था कि अगर बच्चा मर चुका है तब फिर वह भी जीवित न रहेगी। जहर खाने या कुएँ मे छलाँग लगाने की जरूरत नहीं थी। वह अपने लाल की लाश को छाती न लगा कर कहीं जंगल मे लेट रहेगी और रेंगती हुई छाया की भाँति मृत्यु स्वयं ही उस पर धीरे-धीरे छा जायगी।

लेकिन बच्चा जीवित था। यद्यपि भूख और प्यास से इतना निढाल हो चुका था कि उसमें रोने की भी शक्ति नहीं रही थी। "या अल्लाह तेरा शुक्र है!" उस के मुँह से अनायास निकला और उस ने बच्चे

साथ सफर कर रही थी। दिन में सब जंगलों में, पेड़ों के नीचे या पहाड़ी के आँचल मे गुफाओं के भीतर छिपे रहते ताकि दुश्मनो के हाथों गिरफ्तार न हो जायें और शाम को सूरज डूबते समय फिर सफर शुरु कर देते। चार दिन से उन्होंने कुछ नहीं खाया था। केवल पत्तों और जड़ों पर गुजारा किया था। अब तो कदम उठाना भी दूभर मालूम होता था। अकेली होती तो वह कभी का दम तोड चुकी होती। पर वह अकेली न थी। अपना अलग व्यक्तित्व खो कर वह उस काफिले का अंश बन चुकी थी। गोजर की सौ टाँगों में से एक टाँग, नदी के बहाव में पानी की एक बेहकीकत बूँद। जब तक कि काफिला चलता रहता, वह भी चलती रहती।

दूर नीचे घाटी में नदी तीव्र गति से शोर मचाती हुई बह रह थी। कहीं कोई बड़ा भारी झरना गिर रहा था, जो अँधेरे मे दिखायी न पड़ता था। मगर फैले हुए सन्नाटे में उसकी आवाज एक भयानक ठहाके की भाँति पहाड़ियों से टकराकर गूँज रही थी। भयानक अट्टहास उसके कानों मे फिर गूँजने लगे और वह डर के मारे काँप उठी।

भयानक शैतानी अट्टहास, लाल डरावनी आँखें, लोहे के पंजों जैसे कठोर जालिम हाथ, जिनकी पकड़ म एक पैशाचिक शक्ति थी, जिनके स्पर्श में एक शैतानी गर्मी, जैसे पाशविक वासना का बुखार चढ़ा हो। कपड़े फटने की आवाज, जैसे इन्सानियत की दस्तावेज फाड़ी जा रही हो, जैसे किसी अबोध बालक की टाँगे चीर कर दो टुकड़े किये जा रहे हों। और फिर एक चीख वायुमंडल में गूँज उठती

उसके अपने गले से निकली हुई चीख, परन्तु स्वयं उसने उसे ऐसे सुना था, मानो वह उसकी अपनी चीख न हो, बल्कि किसी और स्त्री की चीख हो—गाँव की समस्त सतीत्व खोने वाली स्त्रियों का सम्मिलित चीत्कार हो—समस्त घायल मानवता की पुकार हो।

कबायली तूफान जूफी के गाँव को तबाह-बर्बाद करता हुआ आगे बढ़ गया था। कितने ही झोंपड़े जल कर राख हो गये थे कितने ही आग बुझ जाने के कारण अध-जले वीरान पड़े थे। सारा साज सामान लुट चुका था। स्वयं जूफी की लाज लुट चुकी थी। उसका पति मर चुका था, घर जल चुका था। जवानी की उमंगें, जिन्दगी की तड़प, उसकी आँखों की चमक ..सब कुछ खत्म हो चुका था। कई वर्ष हुए नदी के किनारे बाढ़ के चले जाने के बाद जूफी ने देखा था कि पानी के जोर से घास जमीन के साथ लग गयी है। मुर्दा घास, पानी, निर्मल घास, बे रंग घास ? वही हालत उस खूनी तूफान के गुजर जाने के बाद जूफी की हुई थी। वह जीवित रहना न चाहती थी। उसने सोचा जितनी जल्दी मर जाऊँ, उतना ही अच्छा है।

और फिर उसे अपना बच्चा याद आया। डेढ़ वर्ष की नन्हीं-सी जान, जिसे उसने फूस के एक ढेर में छिपा दिया था, जहाँ उन नर पिशाचों की निगाह उस पर न पड़ सके। यद्यपि उस की टाँगों में चलने की ताकत नहीं थी, फिर भी अपने शरीर को किसी-न-किसी तरह घसीटती हुई वह उस फूस के ढेर तक पहुँची। कुछ पल लगे होंगे, पर वे पल प्रतीक्षा और आशा-निराशा के कई वर्षों से कम न थे। बच्चा जिन्दा है ? बच्चा मर गया ! उसने तय कर लिया था कि अगर बच्चा मर चुका है तब फिर वह भी जीवित न रहेगी। जहर खाने या कुएँ में छलाँग लगाने की जरूरत नहीं थी। वह अपने लाल की लाश को छाती से लगा कर वहीं जंगल में लेट रहेगी और रोती हुई हारा हुआ मौत मृत्यु स्वयं ही उस पर धीरे-धीरे छा जायगी।

लेकिन बच्चा जीवित था। यद्यपि भूख और प्यास से इतना निढाल हो चुका था कि उसमें रोने की भी शक्ति नहीं रही थी। 'या अल्लाह तेरा शुक्र है!' उस के मुँह से बलात् निकला और उस ने बच्चे

को लिपटा लिया। अपने फटे हुए कुर्ते से ढँक कर वह उसे दूध पिलाने लगी। दूध की धार के साथ जिन्दगी की लहर भी बच्चे के शरीर में दौड़ गयी और कई घंटे की मौत-जैसी खामोशी के बाद वह रोने लगा। ज़ूफी को ऐसा लगा-मानो उस ने फिर से उस नन्हें से जीव को जन्म दिया हो।

उस सारे इलाके पर क़बायली आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया था, परन्तु ज़ूफी के गाँव की ओर फिर उन्हों ने ध्यान न दिया। वहाँ लूटने के लिए रहा ही क्या था जो वे फिर आते। सड़क पर से कभी-कभी उन की टुकड़ियाँ घोड़ों पर या लारियों में गुजरतीं भी तो उस वीरान गाँव में न ठहरतीं।

मौत की राख से जिन्दगी की कोंपलें फिर फूटीं। गाँव वाले धीरे-धीरे जंगल से वापस आ गये। लाशों को दफ़न किया। जो घायल थे उन की मरहम पट्टी की गयी। मकानों की मरम्मत करके किसी-न-किसी तरह फिर उन में रहने लगे। क़बायली बैल काट कर खा गये थे, गाएँ और बकरियाँ हँका कर ले गये। बैलों की जगह आदमी हलों में जुते और फिर खेती शुरू हुई।

ज़ूफी और उस के बच्चे पर तरस खा कर एक पड़ोसी ने अपने घर में, जो किसी तरह जलने से बच गया था, एक कोठरी दे दी थी, पर खाने को उनके पास कुछ न था। अपना और अपने बच्चे का पेट भरने के लिए ज़ूफी को क्या-क्या यत्न न करने पड़े। वह पड़ोसियों से भीख माँगती, मौक़ा मिलता तो चोरी करती। जंगल से कच्चे-कच्चे फल तोड़ कर लाती, पर किसी-न-किसी तरह अपना पेट जरूर भरती। अपनी खातिर नहीं, बल्कि इस डर से कि कहीं ऐसा न हो कि उस की छातियों का दूध सूख जाय और बच्चा भूख से मर जाय।

अब उसके जीवन की धुरी और केन्द्र यही बच्चा था। उसके बारे

में जूफी के दिमाग में क्या-क्या स्वप्न और मनसूबे थे। यह बच्चा बड़ा होकर सिपाही बनेगा, दुश्मन से अपनी माँ और देश के अपमान का बदला लेगा। बड़ा होकर वह शायद कोई अफसर बनेगा—ऐसा अफसर नहीं, जैसे पुराने जैलदार, तहसीलदार और कृषि-मन्त्री, जो केवल घूस लेना और ग़रीब किसानो पर अत्याचार करना ही जानते थे, बल्कि नये काश्मीर का, नये ढग का अफसर, जो अपने देश-वासियो की सेवा करेगा। जैसा जूफी ने एक बार शेरे-काश्मीर के भाषण में सुना था। खैर, सिपाही बने या अफसर, दुल्हन तो जरूर ही ब्याह कर लायेगा और फिर बेटा और बहू दोनो बूढी जूफी की सेवा करेंगे और वह दिन भर पोता-पोतियों को गोद में खिलाया करेगी कितने सुन्दर, कितने मीठे थे उसके सपने ! और फिर ये सारे सपने छोटे से अबोध चेहरे में सिमट आते जो अपने उज्ज्वल भविष्य से उतना ही अनभिज्ञ था, जैसे अपने भयानक अतीत से।

खेतो में कोंपलें फूटीं, दूर-दूर तक हरियाली लहराने लगी। जूफी के गाँव वालों के दिल आशा और प्रसन्नता से भर गये। चार महीने उन्होंने बडी मुसीबत से काटे थे। न तन ढकने को कपडा था और न पेट भरने को मुट्ठी भर चावल। फिर भी उन्होंने इस आशा में ये महीने काटे थे कि फसल तैयार होते ही उनके दिन फिर जायेंगे। और कुछ नहीं तो कोई भूखा तो न रहेगा और धान कुछ अधिक निकले तो उनको किसी कस्बे में बेच कर शायद कुछ रुपया भी मिल जाय। अहद् कब से एक चमकदार लाल चमडे के जूतो की आस लगाये बैठा था। अन्तिया पत्नी के नगे कानो के लिए चाँदी की दो बालियाँ बनवाना चाहता था कि उसके गहनो की, जिन्हे कबायली लूट कर ले गये थे, कुछ तो पूर्ति हो जाय। और जूफी ! उसे अपने पैबन्द लगे हुए कुर्ते के बदले दूसरे कुर्ते की इच्छा नहीं थी। उसको अपने घायल पाँव के लिए जूतियों नहीं

चाहिए थीं। उसे तो बस एक ही ख्याल था, एक ही इच्छा थी। किसी तरह उसके बच्चे के लिए एक नन्हा-सा लाल कुर्ता और लाल टोपी मिल जाय, जिससे कि वह अपने लाल को गन्दे चीथड़ों में लपेटने की जगह सुन्दर रंगीन कपड़े पहना सके।

परन्तु उसकी और दूसरों की सब इच्छाएँ मन-की-मन ही में रह गयीं। फसल पक कर तैयार हो गयी तो हमलावरों की एक टुकड़ी सड़क पर से गुजरी। इस बार वे मैले-कुचैले कम्बल नहीं लपेटे थे, बल्कि खाकी वर्दियाँ पहने सिपाही थे जिनके पीतल के बटन धूप में जगमग-जगमग कर रहे थे। उनका अफसर खेतों के बीच पगडंडी पर घोड़ा दौड़ाता हुआ आया और इधर-उधर देखता हुआ सरपट वापस चला गया। इतनी देर तक सब किसान स्तब्ध खड़े रहे और जूफी अपने बच्चे को अपने कुर्ते से छिपाये उसकी जान की दुआएँ माँगती रही।

अगले दिन सूरज भी न निकला था कि मोटरों के आने की आवाज आयी।

"कबायली फिर आ गये, कबायली फिर आ गये!" धीमे स्वरों में यह खबर सारे गाँव में फैल गयी। परन्तु अब की कबायली न थे, दुश्मन के बाकायदा सिपाही थे। सिवाय कुछ एक के, जो लारियों पर मशीनगनें लगाये खड़े थे, और सब के हाथों में बन्दूकों की जगह हँसिये थे। इस बार उन्होंने गाँव या गाँव वालों की तरफ आँख उठा कर भी नहीं देखा। सीधे खेतों की ओर चले गये।

कुछ मिनट तो सब किसान चुपचाप खड़े रहे। कइयों ने खुदा का शुक्र अदा किया कि इस बार हमलावरों का इरादा लूट-मार का न मालूम होता था। पर जल्द ही उन्हें मालूम हो गया कि इस बार लूट दूसरी किस्म की हो रही थी। दुश्मन के सिपाही बड़ी फुर्ती और इत्मीनान से फसल काट रहे थे और कटे हुए धानों को लारियों में

अपने जा रहे थे। जब कटाई करते-करते वे अलिया के खेत की तरफ पहुँचे, तब उससे न रहा गया।

"मेरे धान ! मेरी शाली !" यह कहता हुआ वह पागलों की भाँति अपने खेत की ओर भागा।

लारी पर चढ़ी हुई मशीनगन अपने भयानक स्वर में एक क्षण के लिए बोली और चुप हो गयी। अलिया कमर में गोली खाकर गिरा और फिर न उठा। उसके मुँह से एक चीख भी न निकली और फिर सारे गाँव और तमाम खेतों पर एक भयानक सन्नाटा छा गया। केवल हँसिया चलने की आवाज आती रही।

शाम तक सारे खेत वीरान हो चुके थे। हँसिये के घाव खाये हुए जमीन ऐसी नंगी और जख्मी पड़ी थी, जैसे क़बायली शैतानों की शिकार कोई काश्मीरी औरत। धान से भरी लारियाँ हमलावरों के सैनिक हेडक्वार्टर की ओर चली गयीं। जाते-जाते उनका अफसर किसानों को सम्बोधित करके कह गया—"आजाद काश्मीर सरकार तुम सबका शुक्रिया अदा करती है कि तुमने मुजाहिदों की खूराक का इतना अच्छा इन्तजाम किया।"

"आजाद काश्मीर के मुजाहिद ! आख थू !" बूढ़े ममद जू ने हुक्के का कश लगा कर कहा, जब शाम को सब लोग उसके घर पर इकट्ठे हुए।

"लुटेरे कहीं के।" अहदू बोला—"नयी जूतियों का जोड़ा अब कभी इसे न मिल सकेगा।"

"फिर क्या- जू ? बताओ न, तुम क्या कहते हो ?" कोने में से एक आवाज आयी। और फिर सब इकट्ठे बोल पड़े—"अब किस लिए हम फिर से खेत बोयें ? चार महीने के बाद फिर ये डाकू हमारी फसल काट कर ले जायेंगे।"

"बोयेंगे भी क्या ? अब तो हमारे पास बीज के लिए दो मुट्ठी दाने भी नहीं रहे। जब से दुश्मन ने रास्ते में अपनी चौकियाँ बनायीं, श्रीनगर की तरफ से मदद तो क्या, खबरें आनी बन्द हो गयीं।"

"और खायेंगे क्या ? अब तक तो इस उम्मीद पर जी रहे थे कि फसल पकने पर हमारे पास काफी धान हो जायेंगे। समद जू ! तुम सब से बड़े हो। तुम ही बताओ, क्या करें ?"

कुछ मिनट तक खामोशी में सिर्फ समद जू के हुक्के की गुड़गुड़ाहट सुनायी देती रही। फिर वह बोला—"अब हम यहाँ नहीं रह सकते।"

"पर अपना गाँव छोड़ कर जायेंगे कहाँ ? दुनियाँ में हमारा कौन है ? कौन हमें आसरा देगा ?"

"कौन आसरा देगा ? हमारी हुकूमत !"

"हमारी हुकूमत ? ये आजाद काश्मीर चलाने वाले लुटेरे ?"

"नहीं, पहाड़ियों के उस पार।"

"तुम भी क्या बात करते हो, समद जू। क्या महाराजा हमारी परवाह करेगा ? वह और उसके अफसर आज तक हमारा खून पीते आये हैं। उनसे तुम हमदर्दी की उम्मीद करते हो ?"

"मैं महाराजा की हुकूमत की बात नहीं कर रहा हूँ, शेख अब्दुल्ला [illegible]नता-राज की बात कर रहा हूँ।"

"जनता राज !" सब के कानों में मानो संगीत की एक मधुर तान सुनायी पड़ी हो।

"जनता-राज कहने को सब कहते हैं। पर इन नेताओं का क्या भरोसा, अपने वादे से फिर जायें तो ? अपना गाँव, जहाँ बुजुर्गों की हड्डियाँ हैं, वह भी छुट जाय और वहाँ पहाड़ियों के उस पार भी यही सब हो, जो इधर हो रहा है, तब हम कहीं के भी न रहेंगे।"

"नेताओं पर भरोसा करने की जरूरत नहीं। जनता का अपने पर भरोसा होना जरूरी है। इधर से खबरें आनी कम हो गयी हैं, बन्द नहीं हुई। परसों ही एक आदमी आया है। मालूम हुआ है कि नये काश्मीर का सपना सच्चा साबित हो रहा है। जागीरदारी का खातमा हो गया है। जमींदारों, पूँजी-पतियों के हथकंडों को रोका जा रहा है। महाराजा के अधिकार उससे ले लिये गये हैं। मैं समझता हूँ कि हम शेर-काश्मीर पर भरोसा कर सकते हैं।"

"वा वा, वा वा!"

यह जूफी की आवाज थी। पुरुषों की बातचीत में स्त्रियों का दखल देना अच्छा नहीं समझा जाता। पर जब से पहले हमले में उसने अपने पति, घर और लाज के साथ अपने होश-हवास भी खोये थे, उसकी बातों का कोई बुरा न मानता था। "क्यों जूफी, क्या कहना है?'

'वा वा, वा वा! वह शेर काश्मीर है न? वह मेरे बच्चे के वास्ते लाल कुर्ता सिलवा देंगे न?"

रमद जू के झुर्रियों-भरे चेहरे पर हलकी सी मुस्कान चमकी—"हाँ, हाँ, जूफी, जरूर बनवा देंगे।"

"बस तो मैं भी चलूँगी। इस गाँव में मेरा अब धरा ही क्या है?"

उसी रात के अँधेरे में यह काफिला चल पड़ा। दुश्मन की चौकियों से बच कर जाना था, इसलिए चट्टानों और पेड़ों की आड़ लेते हुए धीरे-धीरे वे रात भर चलते और दिन में गुफाओं या जंगलों में छिप कर लेट जाते। समद जू का हुक्म था कि चलते वक्त पाँव की चाप न सुनायी पड़े। जब किसी चौकी के पास से गुजरते, उस समय तो जोर से साँस लेने तक की मनाही थी, क्योंकि अगर दुश्मन के सिपाहियों को पता चल गया तो अवश्य ही सब को मशीनगनों से भून कर रख देंगे।

समद जू की सूचना के अनुसार उनके गाँव से लेकर उड़ी तक

दुश्मन की सात चौकियाँ विभिन्न पहाड़ियों पर थीं। उनमें से छः में से वे सकुशल निकल आये थे। आज की रात सातवीं चौकी के पास से गुजरना था और काफिले में प्रत्येक व्यक्ति को चेतावनी दे दी गयी थी कि किसी प्रकार की आवाज न हो, नहीं तो मंजिल के इतने निकट पहुँच कर भी वे पकड़े जा सकते हैं।

जूफी का दूध सूख चुका था और उसका बच्चा भूख से मर रहा था। गाय या बकरी का दूध भला कहाँ मिल सकता था? एक बार उसने बच्चे को बहलाने के लिए अपनी सूखी छाती उसके मुँह में दे दी थी तो उसमें से खून की बूँदें निकल आयी थीं। भूखे बच्चे ने उन्हें भी दूध समझकर चाट लिया था। पिछले पड़ाव पर जूफी ने पत्तों और जड़ों को पीसकर और पानी में घोलकर बच्चे को दे दिया था, जिससे उसकी भूख की समस्या तो हल हो गयी, पर शाम होते ही उसके पेट में दर्द होने लगा। बार-बार उसके हाथ पेट की ओर जाते और वह तकलीफ से बिलबिलाता और कराहता।

काफिला चलने से पहले ममद जू ने जूफी से सख्ती के साथ कहा—"जूफी, तेरा बच्चा बेवक्त रोकर हमें जरूर पकड़ा देगा।"

जूफी ने वादा किया था कि उसके मुँह से आह भी न निकलेगी।

"शाबाश!" ममद जू बोला—"आज की रात और है। कल [illegible] उड़ी पहुँच कर तेरे बच्चे को दूध पिलाऊँगा। हमने अपने दो आदमी पहले ही खबर करने को भेज दिये हैं।"

"दूध!" नाम लेते ही जैसे उसके मुँह में दूध की मिठास आ गयी हो - 'दूध और बच्चे का नान कुल्चा'"

"हाँ, हाँ, नान कुल्चा भी मिलेगा। पर, खबरदार, जो [illegible] कोई आवाज भी निकाली।'

सूर्य को डूबे देर हो गयी थी। चौथी रात का चाँद [illegible]

था। उसकी धीमी-धीमी रोशनी में सामने की पहाड़ी एक काले दैत्य के समान रास्ते में खड़ी नजर आ रही थी। उसी पहाडी की चोटी पर दुश्मन की अन्तिम चौकी थी। इससे निकल गये तो आगे उडी तक रास्ता साफ था। परन्तु पगडन्डी चोटी के बिलकुल पास से होकर जाती थी। इस ख्याल से जैसे-जैसे वे ऊपर चढते गये, क़दम सम्हाल-सम्हाल कर धरने लगे। "मौन भूतों का कारवाँ" परन्तु एक बार किसी का पैर ओछा पड़ा और एक पत्थर लुढका और शोर करता हुआ नीचे नदी में जा गिरा। हर एक की साँस अन्दर की अन्दर, बाहर की बाहर रह गयी। ऊपर से आवाज़ आयी, "हाल्ट हू कम्ज देयर!" (Halt who Comes there) और सब को ऐसा महसूस हुआ मानो वे जिन्दगी और मौत के बीच बाल से भी पतले और तलवार की धार से भी अधिक तेज पुल पर खड़े हों और यह पता न हो कि अगला क़दम किधर पड़ेगा।

"हाल्ट हू कम्ज डेयर!" सामने वाली पहाड़ी से टकरा कर सन्तरी की आवाज फिर लौट आयी और उसी समय अहद्, जो जंगल की सब बोलियाँ बोल सकता था, गीदड़ की आवाज बना कर बोला। ऊपर से सन्तरी के किसी साथी ने नींद-भरी आवाज में गीदड़ की कई पीढ़ियों को पंजाबी में गालियाँ दीं और फिर सन्नाटा छा गया। किन्तु हुक्के की गुड़गुड़ाहट की आवाज आती रही, जैसे सन्तरी जागने के लिए यह शगल कर रहा हो।

काफिला फिर चल पड़ा। दबे पाँव, साँस रोके, बेआवाज छाया और पेड़ों की आड़ लेते हुए पहाड़ी पर चढ़ते गये यहाँ तक कि वह चौकी से इतने निकट आ गये कि सन्तरी के हुक्के की गुड़गुड़ाहट के साथ सोये हुए सिपाहियों के खर्राटे भी सुनायी देने लगे।

कुर्सी के बढ़े ने लगा हुआ कच्चा पेट की तकलीफ से तड़पा और

एक बहुत धीमी-सी "उँह" उसके मुँह से निकली. . रोने की भूमिका—"अब यह रोयेगा!" जैसे जूफी के कान में किसी ने खतरे की घंटी बजा दी हो। और एक क्षण से भी कम में उसके दिमाग ने सारे काफिले को मशीनगन की गोलियों का शिकार होते देखा। मम्दू, अहदू के बच्चे, बूढ़ा समद जू, सारा काफिला, बूढ़े, बच्चे और औरत! आजादी का सपना—नये काश्मीर की उमगों, समस्त आशाओं और उम्मीदों का एक दम खातमा हो गया। "नहीं, यह नहीं हो सकता!" उसने तुरन्त बच्चे के मुँह पर अपना हाथ रख दिया। वह साँस रुकने से कुलबुलाया। उसके नन्हे से गले ने फरियाद करनी चाही। पर जूफी का मजबूत हाथ सख्त होता गया और उसके दाँत अपने ओठों में गड़ते गये।

सातवीं चौकी को काफिले ने सकुशल पार कर लिया। सामने की पहाड़ियों के पीछे पौ फट रही थी। हलके-हलके प्रकाश में उड़ी की घाटी कितनी आकर्षक लग रही थी। हर एक ने इतमीनान की साँस ली। स्त्रियों की आँखों में आँसू आ गये, जब उन्होंने सड़क पर कुछ भारतीय और काश्मीरी सैनिकों के साथ अपने उन दो साथियों को खड़ा देखा, जिन्हें सूचना देने के लिए आगे भेजा गया था। उन के साथ और लोग भी थे। एक लारी खड़ी थी, जिसमें से गर्म-गर्म भात की खुशबू आ रही थी और उस के ऊपर लाल हल वाला झंडा लहरा रहा था।

"बच्चों के लिए दूध भी है। सब से पहले बच्चों को ले आओ।" एक स्वयं सेवक ने कहा।

"जूफी!" समद जू चिल्लाया—"पहले तू अपने बच्चे को ले आ।" और यह कह कर उसने स्वयं सेवक से दूध का गिलास ले लिया। जूफी चुपचाप समद जू के पास गयी और अपने कुर्ते के चोगे में से

बच्चे को निकाला। पर वह मर चुका था और मुँह तथा नाक से ख़ून निकल कर उसके मैले कुर्ते को रंगीन बना रहा था—लाल कुर्ता!

"ज़ूफी! यह क्या किया तूने?"

ज़ूफी ने कोई जवाब नहीं दिया। धैर्य का बंधन टूट चुका था। रोती, सिसकियाँ लेती वह अपने मृतक बालक को लेकर एक तरफ बैठ गयी—निराशा के अथाह सागर में डूबी हुई।

"ज़ूफी! ज़ूफी!! जरा-सा भात खाले।" पर ज़ूफी ने कोई जवाब नहीं दिया और फिर समद जू बोला "ज़ूफी, इतना गम न कर। तेरी गोद खाली नहीं हुई। उधर देख।" ज़ूफी ने बच्चे से नज़र हटाकर उधर देखा, जहाँ क़ाफिले के सब लोग—मर्द और औरत, जवान और बूढ़े और बच्चे—ज़मीन पर बैठे चार दिन की भयानक यात्रा के बाद सुस्ता रहे थे और उन्हें देख कर उसके चेहरे पर धीरे-धीरे एक ऐसे मीठे, नर्म और नाज़ुक जज़्बे की चमक पैदा हुई जो केवल एक माँ का हिस्सा होता है।

अब ज़ूफी की आँखों में आँसू न थे।

—०—

मैंने कहानी क्यों नहीं लिखी ?

एक-दो नहीं, श्रीनगर के एस० पी० कॉलेज से चार नौजवान दोस्त फरमाइश लेकर आये कि कल हमारी साहित्य परिषद् का जलसा है। उसमें सहयोग दो और एक कहानी पढ़ो। अब कोई इनकार करे भी तो क्योंकर ?

"कौन सी कहानी पढ़ूँ ?" मैंने एक दोस्त से पूछा, जिसका नाम भी वही है जो मेरा है और जो मेरी ही तरह गंजा और नाटे कद का है। गरज हू-ब-हू 'मैं' है।

"काश्मीरी नौजवानों की महफिल में कहानी पढ़ने वाले हो तो काश्मीर पर कोई कहानी पढ़ो।" उसने जवाब दिया।

"मैंने तो काश्मीर के बारे में एक ही कहानी लिखी है 'ज़ाफ़रान के फूल' मगर वह तो यहाँ की आज़ादी की लड़ाई के एक दूसरे ही दौर का चित्रण करती है। आज तो हालत बदल चुकी है . . ."

मैंने वाक्य पूरा नहीं किया था कि वह बोला—"तो कोई नयी

कहानी लिखा।'

"कहना आसान है और लिखना मुश्किल है," मैंने कहा—"कुछ घंटे ही तो रह गये हैं, कैसे लिख पाऊँगा।"

पर उसने बचने का मौका नहीं दिया—"लिखने वाले कुछ घंटे में भी कहानी लिख सकते हैं। 'जाफरान के फूल' तुमने भी श्रीनगर से रावलपिंडी तक के सफर में लिखी थी। हाँ, अगर कोई अपनी सुस्ती के बहाने तलाश करना चाहे तो . . . ."

मैंने बात काटते हुए कहा "अच्छा भई अच्छा। तुम जीते, मैं हारा। नयी कहानी ही लिखता हूँ "

कागज-कलम लेकर मैं बैठ गया। चेहरे पर तल्लीनता बल्कि प्रेरणा के भाव लाने की चेष्टा की जिससे कि आस-पास वाले सब जान जाएँ कि दिमाग पर रचना का भूत सवार है। लेकिन क्या कहानी लिखूँ, यह समझ में न आया।

कहानी के बारे में अक्सर कमसमझ लोगों का विचार है कि वह भी अखबार के लेख की तरह लिखी जाती है, नाप-तोल कर, या कविता की तरह तुक गढ़ कर तैयार की जाती है। वास्तव में कहानी लिखी नहीं जाती, बल्कि देववाणी की भाँति दिमाग में उतर आती है। किसी गुजराती कहानीकार ने कहानी की उपमा एक हिरनी से दी है जो जंगल में कुलाँचें भरती फिरती रहती है और कोई भाग्यवान तथा चतुर शिकारी ही उसको काबू में कर पाता है।

कल्पना जगत के जंगलों और मैदानों में उसी हिरनी की तलाश में दौड़-धूप किया, लेकिन हर बार वह छलाँग मारकर आगे निकल गयी और न निशाना लगाता ही रहा। कश्मीर की हर स्वर्ग सरीखी सुन्दर घाटी, प्रत्येक पहाड़ी के आँचल, हर एक झील और नदी की सैर मन की। शिकारे पर बैठकर मैं डल में घूमा, घोड़े पर सवार होकर अनन्तनाग

हो आया। शालामार में गाते हुए झरनों के गीत मैंने सुने, लेकिन मुझे कहीं कहानी नहीं मिली। मैं हर वर्ग के काश्मीरियों से मिला। हॉजी शिकार वाले, दस्तकार, गूजर, पंडित, पीर, लकड़हारे, बढ़ई, लुहार, सुनार, शाली कूटती हुई औरत, धान के खेतों में घुटनों-घुटनों पानी में खड़े हुए किसान, पर यह सब तो मामूली काम करने वाले इन्सान थे, भला इनके बारे में कहानी कैसे लिखी जा सकती है? कहानी तो हीरो-हीरोइन के बारे में लिखी जाती है और हीरो हीरोइन सिर्फ एक काम करना जानते हैं—इश्क।

सारांश यह कि इस स्वर्ग सदृश प्रदेश में, जहाँ प्रकृति ने इन्सान और उसके प्राकृतिक वातावरण दोनों को सौन्दर्य प्रदान किया है, जहाँ का प्रत्येक दृश्य रोमान्स से भरा है, जहाँ हब्बखातून आध्यात्मिक प्रेम में मस्त रही और जहाँ शहजादे और लालारुख का इश्क परवान चढ़ा, मुझे कहीं प्रेमी-प्रेमिका की जोड़ी न मिली कि मैं उनके बारे में एक प्रेम-कहानी की रचना कर सकूँ। अब आप ही सोचिए, कहीं मैले-कुचैले कपड़े पहनने वाले हाँजियों और किसानों के बारे में कहानी लिखी जाती है!

जैसा मैंने कहा, कल्पना-लोक में इसी तरह कहानी की खोज में घूम रहा था कि मैं न जाने किस तरह पामपुर जा निकला। पामपुर! इसी गाँव के बारे में मैंने कितनी रोमानी दास्तानें सुनी थीं। कृष्णचन्द्र ने कहीं लिखा है कि जिसने पामपुर का चाँद नहीं देखा, वह दुनिया के सुन्दरतम दृश्य से वञ्चित रहा है। न जाने पामपुर में कोई अलग चाँद निकलता है या वही पीले प्रकाश की टिकिया, जो सारी दुनिया में दिखाई देती है। फिर भी कुछ और दोस्तों की जबानी सुना था कि केसर के मौसम में, पामपुर के निकट केसर के खेत, चाँदनी रात में एक अनुपम सौन्दर्य का दृश्य उपस्थित करते हैं। पामपुर! केसर और मद,

सुगंध और माधुर्य, नदी का किनारा और वह मस्त चाँद ! मैंने सोचा, पामपुर में ज़रूर रोमांस पलते होंगे। पर जब मैंने गाँव के तंग और अँधेरे टूटे-फूटे मकानों को देखा तो मेरा दिल बैठ गया। सड़क पर वर्षा के कारण कीचड़ था और स्त्री-पुरुष सब ऊँची-ऊँची लकड़ी के चबूतरेनुमा खड़ाऊँ पहने फिर रहे थे। जेहलम में बाढ़ आयी हुई थी और वह एक रोमानी, मंथर गति से बहने वाली नदी की बजाय एक बिफरा हुआ समुद्र बनी थी। चारों ओर निगाह दौड़ायी। कहीं न रोमांस का पता चला और न कोई हीरो-हीरोइन मिले।

फिर मैंने दूर से एक लड़की को देखा, जो घड़ा सिर पर उठाये पानी भरने जा रही थी। उसकी चाल से लगता था कि वह जवान ज़रूर है। जैसा कि आप सब जानते हैं, सिर पर घड़ा उठाये हुए पनघट की तरफ़ जाती हुई औरत हमेशा एक सुन्दर और रोमेन्टिक दृश्य उपस्थित करती है। पनघट की कल्पना ही कितनी मनोहर और रोमेन्टिक है। गगरियों की चुहल, पानी के छींटे, प्रेमियों का छिप-छिप कर देखना, किसी यात्री का पनघट पर रुक कर पानी माँगना और शर्बते-दीदार के घूँट पीकर ठंडी आहें भरते हुए चले जाना..

माफ़ कीजिए मैं किसी फ़िल्म का बयान कर रहा था।

वह लड़की पनघट पर जाने के बदले नदी के किनारे पर गयी और वहाँ से घड़ा भरकर वापस आयी। मेरी निगाह में यह एक रोमेन्टिक कार्य नहीं, बल्कि एक अत्यन्त असभ्य कार्य था, क्योंकि बाढ़ के कारण नदी का पानी गदला और गन्दा था। न जाने क्या पगली [illegible] वहाँ भर ला रही थी। भला कोई कुएँ का साफ़ पानी छोड़ कर इस गन्दे पानी को क्यों पिये ?

मैं यह सोच ही रहा था कि किसी ने मुझे बताया कि बाढ़ का पानी रिस-रिस कर कुओं तक पहुँच गया और [illegible]

प्रवाहित जल कुएँ के ठहरे हुए पानी से अपेक्षाकृत अच्छा है।

हाँ, तो जब वह लड़की पानी भरकर वापस हुई, तब मैंने देखा कि वह नौजवान ही थी। गोरी रंगत थी, पर उस पर कीचड़ लगा हुआ था। बालों में धूल अटी हुई थी। कुर्ता मैला था। नंगे पाँव कीचड़ में धंसे जाते थे। मेरे रोमान्स-प्रिय दिमाग ने तुरन्त ही कहानी का शीर्षक तय कर लिया—'कीचड़ का कँवल'

पास ही खड़े एक बड़े मियाँ से मैंने पूछा—"इस लड़की का नाम क्या है ?"

उन्होंने जवाब दिया—"नूरों।"

नूरों ! कितना अच्छा नाम है ! कृष्ण चन्द्र और मंटो, दोनों की कहानियों में आ चुका है। यह लड़की जरूर एक कहानी की हीरोइन बन सकती। है। उसकी निगाहों से मालूम होता था कि वह जरूर किसी से प्रेम करती होगी। एक और आदमी से मैंने पूछा—"क्यों, भाई यह नूरों किसी से इश्क करती है ?"

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा—"इश्क ! उसकी तो कई बरस हुए शादी हो चुकी।"

ओह ! मैंने सोचा, तभी तो भारत और काश्मीर तरक्की नहीं कर पाते। अभी लड़की जवान नहीं होती, दो-चार इश्क नहीं कर पाती कि झट से उसकी शादी कर दी जाती है। भला विवाहिता लड़की के बारे में भी कोई कहानी लिख सकता है, जब तक वह अपने पति के बदले किसी दूसरे युवक के प्रेम बंधन में न बंध जाय ? और नूरों की चाल-ढाल, वेश-भूषा से मालूम होता था कि वह उन सीधी-सादी मूर्ख हिन्दुस्तानी लड़कियों में है, जो शादी-ब्याह को ही अपने रोमान्स की चरम सीमा और उसका अन्त समझती हैं।

खैर, मैंने सोचा, इस नूरों के पति से तो मिला जाय। शायद उसी

में कुछ रोमांस के कीटाणु पाये जायें। मैंने एक राह चलते व्यक्ति से पूछा—"क्यों जी, इस नूरों का पति क्या करता है?"

उसने कहा "नान बाई है।"

मेरी रोमैंटिक कल्पना को फिर एक ठेस लगी। भला कोई नान बाई भी इश्क और मुहब्बत को समझ सकता है? क्या उसके दिल में भी आटे की तरह खमीर उठ सकता है! क्या वह एक सुन्दर युवती को देखकर भी सोच सकता है कि इसके फूले हुए गाल बिलकुल मेरी नानों (खमीरी रोटियों) की तरह हैं।

फिर भी मैंने सोचा, चलो, उसे देख तो लूँ। "क्यों भाई, उसकी दूकान कहाँ है?"

"वह रहा है सामने।"

"मगर वह तो बन्द है।"

"यार वह मोर्चे पर गया हुआ।"

"मोर्चे पर? तुम्हारा मतलब है लड़ाई के मोर्चे पर?"

"हाँ, हाँ, फ्रन्ट पर।"

यह सुनकर मैं खुश हो गया। नूरों का पति दुश्मन का सामना कर रहा है। शायद दर्जनों कबायलियों को मार चुका होगा। शायद उसे कोई पदक या पुरस्कार मिला हो। वह जरूर हीरो बनने के योग्य होगा। मैं जरूर उससे मोर्चे पर जाकर मिलूँगा तब मेरी कहानी पूर्ण हो जायगी।

मैंने पूछा—"नेशनल मिलेशिया में है न?"

जवाब सुनकर मेरे सारे उत्साह पर पानी पड़ गया।

"नहीं जी, वह तो बेचारा कुली बन कर गया है। सिपाहियों की फौज का सामान उठा कर ले जाता है।"

अब आप ही सोचिए, एक सिपाही को तो मेरी कहानी का नायक

वह बोला—"यह कहती है, क्यों रोता है रे तू। तुझे तो बाप की तरह बहादुर होना चाहिए।'

"बहादुर!" यह शब्द सुन कर मैं ठिठका। मैंने सोचा, इस अहमदू को जरूर खोजना चाहिए। शायद वह सचमुच कहानी का हीरो बनने योग्य हो। पर अहमदू का पता कहाँ मिलता? मोर्चे पर तो हजारों कुली काम करते हैं, फिर भी मैं बारामूला फौजी हेडक्वार्टर में पहुँचा तो मैंने पूछा कि क्या कुलियों के रजिस्टर में कहीं अहमदू का नाम लिखा है? मालूम हुआ, एक नहीं, दर्जन भर अहमदू लिखे हुए हैं।

उडी के रास्ते में मैं एक पिकेट पर ठहरा, जहाँ नेशनल मिलेशिया की एक कम्पनी नियुक्त थी। उनसे बातें कर रहा था कि वहाँ उडी से वापस आयी हुई कुलियों की एक लारी ठहरी। ये वे लोग थे, जो मोर्चे पर चार-पाँच सप्ताह काम करने के बाद अपने घर वापस जा रहे थे। मिलेशिया के लड़के लारी की ओर दौड़े और पूछा—'क्यों भाई, पामपुर वाला अहमदू भी है तुम में क्या?"

एक बूढ़ा कुली हँसकर बोला—"और अहमदू वापस आ सकते हैं, पर पामपुर वाला अहमदू मोर्चे से टलने वाला नहीं।" मेरे दिमाग में याददाश्त की एक घंटी बजी। लारी रवाना हो गयी। मैंने मिलेशिया वालों से पूछा - "क्यों भाई, यह पामपुर वाला अहमदू क्यों मशहूर है?"

उन्होंने बताया कि उसने मिलेशिया में भरती होने की तीन बार कोशिश की, लेकिन हर बार उसकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गयी।

"मगर क्यों?" मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्या वह विश्वसनीय नहीं है?"

"विश्वसनीय क्यों नहीं! नेशनल कानफ्रेन्स का पुराना कार्यकर्ता है। पर उसकी आँखें बहुत कमजोर हैं। इसलिए डाक्टरी परीक्षा में बेचारा फेल हो जाता है। पर वह मोर्चे पर जाने के लिए इतना हठ कर रहा

था कि चुपके से कुलियों की टुकड़ी में भरती हो गया और अब तीन महीने से काम कर रहा है।"

सुना है कि अहमदू उड़ी के मोर्चे पर है। मैं उससे मिलने उड़ी पहुँचा। वहीं मालूम हुआ कि तेथवाल में अधिक खतरा होने के कारण कुली वहाँ जाने से झिझकते हैं, अहमदू उनको लेकर उस मोर्चे पर चला गया है। मैं तेथवाल पहुँचा तो वह सकरदू जा चुका था। मैं सकरदू पहुँचा तो वह पुँछ चला गया था और मैं पुँछ गया तो वह उड़ी चला गया। कभी मुलाकात न हुई। और जब तक वह न मिले, मेरी कहानी कैसे पूरी हो ?

मैं वापस उड़ी पहुँचा। जो कर्नल कुलियों का इन्चार्ज था, उससे पूछा "आपके यहाँ एक अहमदू कुली है, पामपुर वाला ?" यह कह कर मैं कलम-कागज निकाल कर बैठ गया, ताकि उसके हालात मालूम करके कहानी पूरी करलूँ। कर्नल ने मेरी तरफ एक अजीब [illegible] से देखा और जवाब में केवल एक शब्द कहा—"था।"

"था ?"

"हाँ !" कर्नल बोला। "रात वह एक [illegible] गया।"

"मारा गया ? पर वह सिपाही तो नहीं था ! वह तो [illegible] कुली [illegible]"

कर्नल ने कहा—"वह सिर्फ एक कुली नहीं था।"

मैं कुछ मतलब नहीं समझा। इतने में एक [illegible] दाखिल हुआ। उसके हाथ में एक जंग लगी पुराने ढंग की तोड़ेदार बन्दूक थी। कर्नल को सलाम करते हुए उसने कहा 'जनाब ! इसी बन्दूक से [illegible] ने दुश्मन के आठ आदमी मार डाले। इसे वह [illegible] छिपाये रखता था।"

मेरे दिमाग़ में एक जनानी आवाज़ ने काश्मीरी बोली में कहा—"क्यों रोता है रे तू। तुझे तो अपने बाप की तरह बहादुर होना चाहिए!"

मैंने कर्नल से कहा—"क्या मैं अहमदू की लाश को देख सकता हूँ?"

शायद उस गरीब नानबाई के मुर्दा चेहरे पर, उसके रूप-रंग, नाक-नक्शा में उसकी बहादुरी और देश-प्रेम का भेद मिल सके।

कर्नल ने अफसोस से इनकार में सिर हिलाया। कैप्टन ने धीरे से समझाया कि एक पच्चीस पौंड के गोले ने अहमदू के चीथड़े बिखेर दिये थे। उसकी लाश का एक टुकड़ा भी न मिला था।

मेरे हाथ से कलम गिर पड़ा। मैंने अहमदू की बन्दूक उठा ली। उसके कुंदे पर अब तक खून—अहमदू का खून—लगा हुआ था।

सो अहमदू से मेरी मुलाकात न हो सकी, जो यह कहानी पूरी हो सकती। आशा है, आप माफ करेंगे कि मैं आपकी फरमाइश पूरी न कर सका। फिर भी अब आप जान गये कि मैंने कहानी क्यों नहीं लिखी?

०

शुक्र अल्लाह का

नहीं साहब, कोई शिकवा शिकायत नहीं। रिश्तेदारों, दोस्तों, दुश्मनों, सम्बन्धियों, अफसरों, मालिकों—किसी ने [illegible] है। न सरकार से कोई गिला है, न अल्ला मियाँ से [illegible] होता है, जो मंजूरे-खुदा होता है। किस्मत [illegible] सकता है? सो मैं अपनी किस्मत पर सन्तुष्ट हूँ [illegible] का शुक्र अदा करता हूँ कि खाने को पुलाव-कोरमा [illegible] तो भेज ही देता है, सिर के ऊपर आसमान के सिवा कोई [illegible] नहीं तो क्या हुआ, सोने के लिए फुटपाथ के पत्थर तो [illegible] हुए रोग को देखकर रहम न लाइए, साहब! खुदा का शुक्र [illegible] जान तो सही सलामत है

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

रोटी को संतोष की चटनी से लगाकर खाओ, तो मुर्ग-मुसल्लम का मज़ा आता है। फिर सड़क के किनारे संतोष का मखमली गद्दा बिछाकर ऊपर से संतोष की रेशमी चादर ओढ़कर सो जाओ, ऐसी नींद आती है कि किसी राजा-नवाब को न आती होगी। और सुनिए। जब मशीन में आकर मेरी बायीं टाँग कट गयी और मिल-मालिकों ने हर्जाना देने से इन्कार कर दिया और मैं एक कबाड़ी के हाँ से दो रुपये में ये टूटी हुई बैसाखियाँ खरीदकर उछलता, कूदता, लगड़ाता हुआ एक डॉक्टर के यहाँ पहुँचा, जो नकली-अंग बनाने में निपुण था और उसने रबड़ की टाँग लगाने के लिए हज़ार रुपये और लकड़ी की टाँग के लिए पाँच सौ माँगे और मेरी जेब में सिर्फ सात रुपये निकले, तो आप जानते हैं मैंने क्या किया? न रबड़ की टाँग लगवायी, न लकड़ी की—संतोष की टाँग लगवा ली। उस दिन से आज तक उन्हीं टूटी हुई बैसाखियों और संतोष की टांग से गुजारा कर रहा हूं। संतोष हो तो बैसाखियों की भी कोई ज़रूरत नहीं है, साहब! अल्लाह ने हाथ दिये हैं, कूल्हे दिये हैं। वह सामने देखिए ना, उस लुंजे कल्लू की तो दोनों टाँगें बेकार हैं, फिर भी हाथों और कूल्हों के सहारे मज़े से घिसट-घिसटकर चल लेता है और अल्लाह का शुक्र अदा करता है कि उसने टाँगों के साथ बाहों पर फालिज न गिरा दिया।

खुदा की मेहरबानी थी कि बचपन ही में माँ-बाप से संतोष का सबक मिला। हम जात के जुलाहे हैं, साहब! यूँ तो हम मुसलमानों में कोई जात-पाँत नहीं होती, खुदा के बंदे सब बराबर हैं। मगर अमीरी-गरीबी, ऊँच-नीच, शराफ़त-रज़ालत* भी तो अल्लाह ही की बनायी हुई है। इसलिए मेरे बाप का कहना था कि इन्सान को अपना दर्जा

---

*निम्नवर्ग की विशेषता।

कभी न भूलना चाहिए और यह अमल भी हमेशा इसी उसूल पर करता था। बूढ़ा होने पर भी वह शरीफों के लौंडों तक को झुककर सलाम करता। हर पठान को "खान साहब," हर सैयद को "मीर साहब," हर बनिये को "लालाजी," हर ब्राह्मण को "पंडितजी," और छोटे-से-छोटे अफसर—यहाँ तक कि पटवारी, नम्बरदार तक को—"सरकार" कहता था। मगर वे सब उसे "बुद्धू जुलाहा" कहकर ही पुकारते थे। इन अमीरों-शरीफों के बच्चों को उजले कपड़े पहने, किताबें हाथ में लिये, स्कूल जाते हुए देखकर हम भाइयों का भी जी चाहता कि हमारे भी ऐसे कपड़े हों और पढ़-लिखकर हम भी अफसर बनें। मगर मेरा बाप हमें समझाता "बेटा, अपनी औकात नहीं भूलनी चाहिए। खुदा ने जो दर्जा दिया है, उसी पर सब्र-शुक्र से बसर करना चाहिए, नहीं तो 'कौआ चला हंस की चाल' वाली कहावत हो जायगी।" मेरे बाप को कहावतें बहुत याद थीं और जैसा मौका होता, वैसी ही कोई कहावत सुना देता।

में साबुन से धो कर दे दिये। जब हमने अपने पड़ोस में वकील साहब के बच्चों को रेशमी अचकनें और नयी तुर्की टोपियाँ पहने देखा तो हमें बड़ा रोना आया। पर बाबा ने कहा—"अरे, रोते क्यों हो? वह अमीर अपने माल में मस्त हैं तो हम गरीब अपनी खाल में मस्त।" यह बात मेरे दिल में बैठ गयी। वह दिन और आज का दिन जब कभी मैं किसी अमीर रईस को बढ़िया कपड़े पहने अकड़फूं बने देखता हूँ तो फौरन मैं अपनी खाल में मस्त हो जाता हूँ।

हाँ, साहब, तो जब मैं बड़ा हुआ तो अपने बाप के साथ कम्बल बुनने का काम करता रहा। मगर जब यह धंधा मंदा पड़ गया तो मेरे बाप ने नम्बरदार से सिफ़ारिश करवा कर मुझे तहसीलदार साहब के यहाँ नौकर रखवा दिया। तहसीलदार साहब शहर के बाहर, तहसील के पास, एक बंगले में रहते थे। अल्लाह बख्शे, खाँ कुदरतुल्ला खाँ नाम था उनका। बड़े रोबदाब वाले थे। ये बड़ी बड़ी मूँछें और आवाज ऐसी कि किसी को जोर से डाँट दें तो डर के मारे पेशाब निकल जाय। शहर भर उनसे काँपता था। उनके यहाँ बस मैं ही एक नौकर था। तहसील के दो चपरासी भी कचहरी के वक्त के बाद ऊपर का काम करते थे, मगर घर का सब कामकाज मुझे ही देखना पड़ता था। खाना पकाने को एक बुढ़िया दो वक्त आ जाती थी, मगर झाड़ू देना, कमरे की मेज-कुर्सियों को रोज झाड़ना-पोंछना, तहसीलदार साहब को हर पंद्रह-बीस मिनट बाद हुक्का भर कर देना, बर्तन धोना, बिस्तर बिछाना, बाज़ार से सौदा-सुलफ लाना—यह सब मेरा काम था। और हाँ, इन सब कामों के अलावा एक काम और भी था। यह था तहसीलदार साहब की बेटी बानो की किताबें उठा कर उसे स्कूल छोड़ आना। लड़कियों का स्कूल कोई दूर नहीं था, बंगले से मुश्किल से आधा मील होगा, और बस्ती में से होकर जाता था

इससे भी कम मगर तहसीलदार साहब की शान के खिलाफ था कि उनकी बेटी खुद किताबें उठा कर ले जाय, इसलिए बानो को स्कूल पहुँचाना और वहाँ से वापस लाना, यह मेरा फर्ज़ था। और सच पूछिए, तो सारे कामों में मुझे यही काम सबसे अच्छा लगता था। उन दिनों कोई सत्रह-अठारह बरस का होऊँगा, साहब। खुदा के फ़ज़ल से नाक नक्शा भी बुरा नहीं था और सेहत भी माशा-अल्लाह अच्छी थी। फिर तहसीलदार साहब ने दो-चार पुरानी कमीज़ और शलवार दे दी थीं, जिन्हें मेरी माँ ने गूथ-गाँथकर ठीक कर दिया था। वह पहन कर और सिर के बालों में कड़वा तेल डालकर, मैं भी अच्छा-खासा जेन्टलमैन लगता था। बानो स्कूल तो बुर्का ओढ़ कर जाती थी, मगर मुझ से परदा नहीं करती थी। तहसीलदार साहब परदे के मामले में वैसे बड़े कट्टर थे, मगर उनका कहना था कि नौकरों से क्या परदा? और वह यह ऐसे ही कहते, जैसे कोई कहे, घर के कुत्ते से [illegible] परदा, या बैल या घोड़े से क्या परदा?

हाँ, तो साहब, बानो मुझ से परदा नहीं करती [illegible] या सोलह बरस की होगी, सातवीं का इम्तहान देने [illegible] [illegible] क्या बताऊँ, आपसे ऐसी बातें करते शर्म आती है। पर [illegible] [illegible] कि अल्लाह-मियाँ ने खास अपने हाथ से [illegible] रंगत ऐसी जैसे मैदा और शहद, और बातें ऐसी [illegible] पर जब वह मेरी तरफ देख कर मुस्करा देती, तो ऐसा लगता [illegible] परदों में से चाँद निकल आया हो। छुहारे [illegible], मैं [illegible] [illegible] ! मैं तो आदमी था, सरकार, और [illegible] [illegible], पर फ़रिश्ते भी उसे देख लेते, तो [illegible]

---

* [illegible]

भूल जाते। फिर भी वह मालिक की बेटी थी और मैं नौकर। कभी ऐसा-वैसा ख्याल आता भी, तो मैं सोचता—"अबे ओ, बुद्धू जुलाहे के बेटे, क्यों पागल हुआ है? अपनी औकात मत भूल, नहीं तो इतने जूते पड़ेंगे कि सिर गंजा हो जायगा।" और यह सोचते ही मेरा नशा ऐसा गायब होता, जैसे गधे के सिर से सींग। पर, सरकार, झूठ क्यों बोलूँ, अगले दिन जब उसकी किताबें उठाये खेतों में से होता हुआ बानो के साथ स्कूल जाता, और इधर-उधर किसी को न पा कर वह बुर्का सिर से उतार देती और उसके बालों की भीनी-भीनी खुशबू हवा में फैल जाती, तो शैतान फिर मुझे भरमाने लगता और कहता—'अबे तू नौकर नहीं है और वह मालिक की बेटी नहीं है। तू भी जवान है और वह भी जवान।"

वैसे तो बानो तहसीलदार साहब की इकलौती बेटी थी और बड़ी चहेती थी और उसके लिए दुनिया का हर ऐश-आराम मौजूद था, पर सचमुच वह बहुत दुःखी थी। बात यह थी कि उसकी माँ के मरने के बाद तहसीलदार साहब ने दूसरी शादी कर ली थी। सौतेली माँ तो, आप जानते ही हैं, सरकार, बड़ी बला होती है, पर यह तहसीलदार की दूसरी बीवी खानम जो थी, यह तो बहुत ही ज़ालिम था। सौतेली बेटी को एक घड़ी खुश देखना उसके लिए मुश्किल था। पर थी बड़ी चालाक। जब तक तहसीलदार साहब घर में रहते, उनको दिखाने के लिए बानो से मीठी-मीठी बातें करती। पर जैसे ही वह कचहरी जाने के लिए घर से निकले, उसने चोला बदला। बात-बात पर [illegible] पर डाँट पड़ती। पिटती भी बिचारी। एक दिन सवेरे खानम ने अपने गोद के बच्चे के गू-मूत में सने हुए [illegible] को कहा। वह बिचारी स्कूल का काम कर रही थी, [illegible] गयी। खानम [illegible]

बाहर जो निकली, तो देखा, निहालचे वैसे ही पड़े हैं। बस, आग ही तो लग गयी। बानो के हाथ से स्कूल की कापी छीन कर पुर्जे पुर्जे कर दी और लड़की की चोटी पकड़कर घसीटती हुई अपने कमरे में ले गयी और वहीं छपरखट का पाया उठाकर, उसके हाथों को नीचे दबा कर खुद छपरखट पर चढ बैठी और कहती रही कि तू जब तक माफी नहीं माँगेगी, नाक नहीं रगड़ेगी, मैं तुझे नहीं छोड़ूँगी। पर बानो भी हठ की बड़ी ही पक्की थी। दाँत भींचे रही, न रोयी, न सिसकी, न माफी माँगी। जब ख़ानम का बच्चा रोया, तो वह खुद ही उठी। मैं बरामदे की चिक में से यह सब देख रहा था। मेरा बस नहीं चलता था कि जाकर ख़ानम को जान से मार दूँ। जब उस कम्बख्त को कमरे से बाहर जाते देखा, तब जान में जान आयी। पर अब बानो के हाथों में इतनी ताक़त भी नहीं रही थी कि खुद पाये उठा सके। यह देखकर मैं ख़ानम से डरता-डरता कमरे में गया और जल्दी से पलंग का पाया उठाया। उस वक्त बानो की आँखों का हाल क्या बयान करूँ, सरकार! ऐसा लगता था, जैसे कोई घायल हिरनी, जिसे किसी ने [illegible] से बचा लिया हो। देखते-ही-देखते अब उन आँखों में [illegible] आये, और फिर तो मैं क्या देखता हूँ कि वह मेरे [illegible] पर [illegible] सिसकियाँ भर रही है। आप ही बताइए, ऐसे [illegible] पर [illegible] क्या करे? मेरा तो साँस ऊपर का ऊपर, नीचे का नीचे रह गया। "छोटी बीबी, क्या कर रही हो? [illegible] देख [illegible] [illegible] उधेड़ देगी," मैंने आहिस्ता से कहा। और फिर [illegible] [illegible] [illegible] हुई घड़ी ने साढे नौ का घंटा बजाया, मैंने कहा— [illegible] [illegible] देर हो गया। और स्कूल का नाम सुनकर [illegible] [illegible] [illegible] बन गया और मेरे [illegible] कंधे से सिर उठाकर उसने कहा— [illegible], मेरी किताब उठा! आज तो मेरे [illegible] [illegible] [illegible]

की ताकत भी नहीं रही।"

उस दिन बानो स्कूल जाने के लिए घर से निकली तो मैंने देखा कि बुर्के के अन्दर उसने एक पोटली सी छिपाकर बगल में दबायी हुई है। स्कूल के रास्ते में बानो ने हमेशा की तरह नकाब उलट दी। रास्ता पगडंडी-पगडंडी खेतों में से जाता था, इधर-उधर देखकर वह बोली— "ममदू, यूँ तो मैं मर जाऊँगी।"

मैंने कहा—"हाँ, छोटी बीबो, यह खानम बड़ी जालिम है।"

"फिर?" और यह कहकर उसने मेरी तरफ यूँ नजर भरकर देखा कि मेरा मुँह घबराहट से लाल हो गया।

"तहसीलदार साहब से क्यों नहीं शिकायत करती? वह तुम्हारे बाप हैं आखिर।"

"अब्बा से शिकायत की तो यह डाइन मुझे जान से ही मार डालेगी। और फिर अब्बा मेरी बात क्यों मानने लगे? तुमने देखा नहीं, उनके सामने कितनी चिकनी-चुपड़ी बातें करती है?"

"फिर?" इस बार मैंने यह सवाल किया।

वह बोली—मेरी आँखों में आँखें डालकर—"चलो, ममदू, कहीं भाग चलें। मेरे पास थोड़ा-सा जेवर-गहना है। [illegible] मैंने बचाकर रख छोड़े हैं।"

अमीर छोकरियाँ अपने नौकरों के साथ भाग जाती हैं, ऐसे किस्से मैंने सुने जरूर थे, मगर मैं समझता था कि ये बातें किस्से-कहानियों में हुआ करती हैं। अब बानो की जबान से खुद ये सुनकर मेरा तो [illegible] हुआ, सरकार, कि काटो तो लहू नहीं बदन में। सिर से पैर तक थरथर काँपने लगा। कोई जवाब ही न बन पड़ा। ऐसा लगा, [illegible] दो टुकड़े हो गये हों। एक दिन कहा था— अबे ममदू, [illegible] भाग [illegible]। ऐसा मौका फिर हाथ न आयेगा। [illegible]

जोबन तो देख, और उन जुलाहों की काली कलूटी लौंडियों से मुकाबिला तो कर, जिनसे तेरी माँ तेरी किस्मत फोड़ने वाली है। और वह खुद कह रही है कि जेवर-गहने भी हैं। अबे, ऐश करेगा, ऐश !" पर, सरकार, दूसरे दिल ने कहा—"अपनी औकात मत भूल ! तू ममदू है, ममदू—बुद्दू जुलाहे का लौंडा, तहसीलदार साहब का नौकर ! ऐसी-वैसी कोई बात करेगा तो इतने जूते पड़ेंगे कि सिर पर एक बाल न रहेगा।"

वह तो खैर हुई, सरकार, कि इतने में सामने से स्कूल का कोई मास्टर आता हुआ नजर आ गया और उसने झट से नकाब गिरा दी। फिर आहिस्ता से मुझसे बोली—"छुट्टी चार बजे होगी, पर तू तीन बजे ही ताँगा लेकर आ जाइओ। साढ़े तीन बजे कलकत्ता मेल जाती है, बस, आज मैं घर वापस न जाऊँगी।"

मास्टर पास से गुजर गया तो मैंने चुपके से कहा—"बीबी, ऐसी बात मत करो। तहसीलदार साहब को पता चलेगा तो मेरी [illegible] खिंचवा देंगे।"

वह बोली—"अरे, तू मर्द होकर डरता है ?" और फिर [illegible] एक हलकी सी सिसकी की आवाज आयी। "ममदू, अगर तू [illegible] ताँगा लेकर न आया तो मेरा खून तेरी गर्दन पर होगा।"

बस, यह कहा और झट से वह तो स्कूल के अन्दर चली [illegible] और मैं वहीं दरवाजे के सामने खड़ा-का-खड़ा रह गया। [illegible], जैसे मुझ पर बिजली गिरी हो। आप ही बताइए, सरकार, [illegible] क्या [illegible] ? एक तरफ तहसीलदार साहब के हंटर का डर, दूसरी तरफ [illegible] की जान का ख्याल। न जाने कितनी देर [illegible] स्कूल के दरवाजे के सामने खड़ा रहा। फिर [illegible] [illegible] [illegible] से हटकर कितनी ही देर तक खेतों में [illegible]। [illegible] बंगले पर वापस पहुँचा तो बारह बज रहे थे और [illegible]

में आपे से बाहर हो रही थी। अभी मैंने दरवाज़े में क़दम ही धरा था कि गालियों-कोसनों की बौछार शुरू हो गयी—"कहाँ था अब तक तू, हरामज़ादे? घर का सारा काम यूँ ही पड़ा है और तू मारा-मारा फिर रहा है। क्यों रे, जवाब क्यों नहीं देता? आखिर तू था कहाँ?" और जब मेरी ज़बान से एक शब्द न निकला तो आँखों से आग बरसाती हुई वह मेरी तरफ बढ़ी—"अरे, बोलता क्यों नहीं? गूँगा हो गया है क्या?" यह कहकर उसने मेरा हाथ पकड़कर मुझे झझोड़ा। पर जैसे ही उसने मेरी बाँहों को छुआ, उसकी चीख निकल गयी— "अरे, तुझे तो तेज़ बुखार चढ़ा हुआ है। कमबख्त कहीं प्लेग तो नहीं है? घर में आज ही एक मरा हुआ चूहा निकला है।" और यह कहकर उसने मेरी तरफ ऐसे देखा, जैसे मैं ही वह मरा हुआ चूहा था और फ़ौरन जाकर कार्बोलिक साबुन से हाथ धोने लगी कि कहीं बीमारी की छूत न लग गयी हो।

तो, सरकार, खुदा जो कुछ भी करता है, बंदे की भलाई के लिए ही करता है। मुझे प्लेग तो नहीं हुआ, पर मलेरिया बुखार जो उस दिन चढ़ा तो उसने एक महीने तक जान न छोड़ी। मैं अधमुआ तो हो गया, मगर तहसीलदार साहब के हंटरों से मेरी चमड़ी बच गयी। हाकिम ने तो उसी वक्त मुझे चपरासी के साथ घर भिजवा दिया था और कह दिया था कि बस, अब यहाँ आने की ज़रूरत नहीं, मुझे ऐसे नौकर नहीं चाहिएँ जो रोज़ बीमार रहते हों। घर पहुँचते-पहुँचते मुझे तो सरसाम का दौरा पड़ गया और वह सरदी चढ़ी कि माँ ने घर भर की रजाइयाँ कम्बल-गुदड़े मेरे ऊपर डाल दिये, फिर भी कँपकँपी न गयी। पर उस बुखार की हालत में भी, सरकार, बाबा का ख्याल मेरे दिल से न निकला और बेहोशी में भी बार-बार मैं यही चिल्लाता रहा— '[illegible]', इन बेचारों को मत [illegible]। मैं पूरे तीन [illegible]

तक कि मेरे बाप ने तंग आकर मुझे झकझोड़कर उठा दिया—'अबे, क्या ताँगा-ताँगा बड़बड़ा रहा है? कहीं गरमी दिमाग़ को तो नहीं चढ़ गयी?'

महीने भर के बाद जब चलने फिरने लायक हुआ तो सुना कि तहसीलदार कुद्रतुल्ला खाँ की तो सहारनपुर बदली हो गयी है, उनकी जगह कोई और तहसीलदार आया है। फिर यह भी सुनने में आया कि खाँ साहब की तरक्की हो गयी है और अब वह डिप्टी-कलक्टर बना दिये गये हैं। डिप्टी-कलक्टर तो बड़ा हाकिम होता है, सरकार, तनख्वाह भी काफी मिलती है। जभी-तो खाँ साहब ने सहारनपुर जाते ही मोटर भी ले ली, ड्राइवर भी रख लिया। अब आप पूछेंगे, अबे, तुझे कैसे पता चला कि उन्होंने मोटर ले ली और ड्राइवर रख लिया? तो बात यह है, सरकार, कि अच्छा होने के दो-चार महीने बाद मैं लाला गिरवारी मल आढ़ती की गल्ले की दुकान पर [illegible] पर नौकर हो गया था। एक दिन [illegible] सहारनपुर के ज़मींदार ठाकुर [illegible] लगे- "लाला, सुना तुमने? वह तुम्हारे यहाँ [illegible] थे न [illegible]"

लाला बोला—"हाँ, हाँ, वह तो अब [illegible] लगे हुए हैं। अब तो सुना है, बड़े ठाठ हैं। मोटर [illegible]"

ठाकुर नवाब अली बोले—'अरे, लाला, [illegible] बरकत है। मोटर की और नयी तालीम की।'

यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। लाला जी बोले—'ठाकुर साहब, क्या कह रहे हैं?'

ठाकुर साहब ने कहा—"अरे लाला, [illegible] साहब कुद्रतुल्ला [illegible] डिप्टी-कलक्टर, [illegible] ड्राइवर [illegible]

के साथ भाग गयी।"

मैंने अपने दिल को लाख समझाया कि अबे, तुझे तो खुश होना चाहिए, अब खाँ साहब के हंटर उस साले ड्राइवर की पीठ पर पड़ेंगे, तू तो साफ़ बच गया। मगर झूठ क्यों बोलूँ, सरकार, सच्ची बात यह है कि दिन भर मुझसे ठीक काम न हो सका और उस रात जब माँ ने रोज़ की तरह फिर बुद्दी जुलाही की शीरीं से मेरे ब्याह की बात छेड़ी, तो मैंने भी कह दिया—"अच्छा माँ, जैसी तेरी मरज़ी।"

संतोष अजब चीज़ है, सरकार। इन्सान अपनी किस्मत पर सब्र-शुक्र करना चाहे तो फिर यही फुटपाथ के पत्थर भी मखमली गद्दे बन जाते हैं और रात के अँधेरे में भैंगी शीरीं जुलाही भी बानो-जैसी सुन्दर दिखायी देती है। साल भी नहीं हुआ था कि शीरीं ने एक बच्चा जन दिया। अगले बरस एक बच्ची। फिर तो, सरकार, नम्बर लग गया। छः बरस में पूरे पाँच बच्चे। तीन लड़कियाँ, दो लौंडे। पर खुदा की मरज़ी में किसी को चारा है? औलाद भी उसी की देन है, जब चाहे वापस ले ले। एक बच्चा तो पैदा होते ही मर गया, और एक लौंडिया दो बरस की होकर निमोनिये से हलाक हो गयी। अब एक लौंडा और दो लौंडियाँ रह गयीं, पर अपने लिए इतनी औलाद को पालना भी मुश्किल था। घर का सारा बोझ अब मुझ पर ही था। बाबा की कमर तो खाट से लग गयी थी और माँ की आँखों से सुझाई देना बहुत कम हो गया था। बेचारी दिन में भी टामकटोइयाँ मारती थी। मेरा बड़ा भाई दस साल पहले बम्बई जो गया, तो फिर लौटा नहीं था, न कोई पत्र ही भेजा, न रुपया, पहले सुना था, किसी फ़िल्म कम्पनी में चौकीदार है, बड़ी-बड़ी खूबसूरत एक्ट्रेसों की मोटरों के दरवाज़े खोलता है। मेरा भी कई बार जी चाहता कि भाई के पास चला जाऊँ, बम्बई [illegible] [illegible]। मगर [illegible] [illegible]

और फिर रेल का किराया कहाँ से लाऊँ ? सो इसी सोच विचार में कई बरस गुजर गये और हम मुजफ्फरनगर ही में मेहनत-मजदूरी पर सन्तोष करते रहे।

फिर खुदा का करना क्या हुआ कि अपना भी कलकत्ते जाने का एक मौका निकल आया। हुआ यह कि अपने मुहल्ले में एक नन्हा नानबाई था, उसका लौंडा रहमत एक बरस दिल्ली काम ढूँढने गया हुआ था। वह जो वापस आया, तो क्या देखते हैं कि बिलकुल जण्टलमैन बना हुआ है। जापानी सिल्क का कमीज, गले में सोने के बटन, बाल अँग्रेजी फैशन के बने हुए। मेरा बचपन का यार था। मैंने कहा—"क्यों बे रहमत, कहाँ से गड़ा खजाना मिल गया ?" बोला—"हम तो पानी से सोना बनाते हैं।" मैं समझा, साले का कीमिया बनाने का कोई नुस्खा हाथ आ गया है। पर उसने बताया कि उसने रेल में सोडा-लेमन बेचने का ठेका ले रखा है, इसी से दो-अढाई सौ महीने की आमदनी हो जाती है। कहने लगा—"तीस रुपये महीना तो अपने नौकरों को दे देता हूँ, जो हर स्टेशन पर सोडा-लेमन-बरफ की आवाज लगाते हैं। [illegible] कलकत्ते-बम्बई की सैर मुफ्त करते हैं, वह अलग।" [illegible] मेरे मुँह में पानी भर आया। मैंने कहा—"यार रहमत, [illegible] तो मुझे भी दिला दे।"

सो सरकार सोडा-लेमन बेचते-बेचते [illegible] गया। मैंने तो पहले दिल्ली भी नहीं देखा था [illegible] पटी-पटी रह गयी। इतनी चौड़ी साफ सड़कें, ये मोटरें [illegible] पहले [illegible] देखी थीं ? मैंने सोचा, रहमत के सोडा-[illegible] में [illegible] और यहीं पड़ रहा। [illegible] आज [illegible] कहाँ से [illegible] नहीं [illegible]।

[illegible]

अढ़ाई रुपये भी मिल जाते थे। मैं समझा, यह काम तो बड़ा अच्छा है, महीने में साठ-सत्तर रुपये मिल जाते हैं। मज़दूरों की बस्ती में एक कोठरी ले ली थी, दस रुपये उसका किराया देता था। कभी कभी दस-पन्द्रह बीवी को घर भी भेज देता था। मगर ईमान की बात यह कि दूसरे साल के बाद मैंने कुछ नहीं भेजा। यह भी पता नहीं कि उस पर क्या गुजरी। जवान आदमी था, सरकार, और फिर कलकत्ते में जहाँ रुपये दो रुपये रोज में सोनागाछी में नयी जोरू मिल जाती हो तो फिर हज़ार मील दूर एक भँगी बदसूरत बीवी को रुपया भेजना भी तो बड़ा मुश्किल होता है। ऊपर से दारू पीने की आदत भी पड़ गयी थी, सरकार। आप कहेंगे तो कि यह आदमी बड़ा आवारा-बदमाश है, मगर असल बात यह थी कि दिन भर गधे की तरह रिक्शा खींचने के बाद शाम को ग़म गलत करने के लिए थोड़ी दारू ज़रूर चाहिए। और फिर दारू के बाद न जाने कैसे पैर आप से आप ही सोनागाछी की तरफ़ चल पड़ते थे।

[illegible], तो साल भर रिक्शा चलाया। कोई सौ-सवा सौ रुपये [illegible] आड़े वक्त के लिए जमा भी कर लिये, पर यह पता नहीं था कि आड़ा वक्त इतनी जल्दी आ पहुँचेगा। बरसात के दिनों में भीगकर बुखार चढ़ा, बुखार से निमोनिया हो गया। डाक्टर ने कहा—"रिक्शा [illegible] खींचते फेफड़े कमज़ोर हो गये हैं। यह काम छोड़ दो।" [illegible] महीने खाट पर पड़ा रहा। जब बुखार ने पीछा छोड़ा तो [illegible] इतनी ताक़त ही नहीं थी कि रिक्शा चला सकूँ। [illegible] था, वह सब खत्म हो चुका था, फिर भी मन [illegible] किया कि निमोनिया न मरा नहीं। सोचा, [illegible] रिक्शा पर, चलो कोई और काम करो। [illegible] खुदा [illegible] को [illegible] देता है, क्या मुझ [illegible]

पर भरोसा किये बैठा रहा।

मेरे बराबरवाली कोठरी में अपनी ही तरफ के कई मजदूर रहते थे। एक तो हरनाम था, बुलंदशहर का ठाकुर था, मगर बाप ने सारी जायदाद शराब पी पीकर उड़ा दी थी। बेटे को पढ़ाया-लिखाया नहीं, सो वह अब कारखाने में मजदूरी करता था। एक बनारस का चमार था, मगरू, एक पीलीभीत का मुसलमान था, रहमत खाँ। और मज़ा यह कि तीनों में गहरी दोस्ती थी और साथ ही रहते थे। मैंने एक बार अकेले में रहमत खाँ से कहा भी कि तुम इन काफिरों के साथ रहते हो, ईमान-धरम का भी कुछ ख्याल है। वह गाली देकर बोला—"अरे, ईमान-धरम की ऐसी-तैसी! हमारा धरम तो मजदूरी है, मजदूरी।"

इन तीनों ने मुझसे कहा—"चल, तुझे अपने कारखाने में नौकर करवाये देते हैं। दो रुपये रोज मजदूरी के मिलेंगे।" मैंने सोचा, [illegible] अच्छा है। रिक्शा खींच-खींचकर फेफड़े खराब करने से [illegible] की मजदूरी ही अच्छी रहेगी। अगले दिन वे मुझे [illegible] में ले गये, जहाँ पटसन की बुनाई होती थी और [illegible], जिसे सब सरदार-सरदार कहते थे, मेरी तरफ से [illegible] भी दे दिये। पर मुझे नौकरी न मिली। 'वीविंग मास्टर' [illegible] आज-कल मंदा है, इसलिए हम तो पहले ही [illegible] की सोच रहे हैं। नया आदमी कैसे रख सकते [illegible] मेरी तरफ इशारा करके बोला [illegible] फिर इसे हमारे काम का कोई तजरबा भी [illegible]। कितने ही दिन तो इसे काम सीखने में लग जायेंगे।

[illegible] वापस आ गया और फिर रिक्शा [illegible] था। पर खुदा [illegible] करना [illegible] हुआ कि [illegible] खींचने में [illegible] हो गयी। हुआ यह कि [illegible] ने [illegible]

मंदी होने की वजह से हमें या तो बहुत से मजदूरों को छुट्टी देनी पड़ेगी या उनकी पगार कम करनी पड़ेगी, इसलिए हमने दो रुपये की बजाय मजदूरी घटा कर डेढ़ रुपया करने का फैसला कर लिया। मजदूरों ने जब यह सुना तो उनमें खलबली मच गयी। हड़ताल की तैयारी होने लगी। मैंने रहमत खाँ और मगू, दोनों को हड़ताल की बातें करते सुना तो बोला—"तुम लोग पागल हो गये हो? अरे भाई, आठ आने के लालच में आकर डेढ़ रुपये रोज की आमदनी पर भी लात मार रहे हो! जो मिलता है, उसी पर संतोष करो। खुदा की मरजी होगी तो मजदूरी फिर बढ़ जायगी।" मगर उन दोनों पर तो हड़ताल का भूत सवार था। रहमत खाँ बोला—"इस वक्त हमने चुपचाप पगार कटा ली तो ये मालिक कल हमारे सीने पर सवार हो जायेंगे सीने पर।" और मगू एक मोटी-सी गाली देकर बोला—"अगर बाजार में मंदी हो रही है तो क्यों नहीं हमारा मालिक अपनी पाँच कोठियों में से दो-चार क्यों नहीं बेच देता? साले ने तो तीन-तीन औरतें रख छोड़ी हैं, जिनमें से एक विलायती मेम भी है।"

न धीरे से पूछा—"क्यों हरनाम, क्या यह सच है ?" यह सुनकर हरनाम चिल्लाकर बोला—"हाँ, हाँ, गया था काम पर ! कर ले जिसका जो जी चाहे !"

रहमत अब भी धीरे से बोला—"अच्छा, यह बात है ?" फिर वह उठकर कोठरी में गया और वहाँ से लौटा तो उसके हाथों में हरनाम का बिस्तरा, टीन का ट्रंक और दूसरा सामान था। बड़ी शांति से उसने ये सब चीजें बरामदे के बाहर मैदान में फेंक दीं और एक शब्द न बोला। चुपचाप अपनी चारपाई पर जा कर लेट गया और हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। हरनाम की आँखों में तो खून उतर आया, वह चटाक् से रहमत की तरफ लपका। मगर मग्गू बीच में आ गया। [illegible] मग्गू था तो दुबला-पतला सा, मगर उसके हाथों में बड़ी ताकत थी और वह बड़ा फुर्तीला भी था। हरनाम को रोककर उसने एक [illegible] दी तो वह चारों खाने चित जमीन पर आ रहा। इतने में [illegible] मजदूर वहाँ जमा हो गये थे। हरनाम में सभी जले हुए थे। [illegible] देखकर सब खिलखिलाकर हँस पड़े। [illegible] सहलाता हुआ उठा तो देखा कि चारों तरफ से [illegible] अगर वह रहमत या मग्गू पर एक बार भी वार करता [illegible] सारे उस पर झपट पड़ेंगे। इसलिए उस बेचारे ने अपनी [illegible] मेरी कोठरी के सामने बरामदे में रख दी, फिर मेरे [illegible] बोला—"क्यों मम्दू, तेरे यहाँ आ जाऊँ ? कोठरी का [illegible] [illegible] में दे दिया करूँगा।"

[illegible] क्या चाहे, दो आँखें। [illegible] [illegible] से [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] यहाँ आ जा, [illegible] [illegible] जो रहते [illegible]

हरनाम को रहने के लिए अपनी कोठरी में जगह दे दी और उसने दू[illegible] दिन ही मुझे कारखाने में नौकर करवा दिया। हड़ताल को [illegible] मालिक हर किसी को रखने के लिए तैयार थे, चाहे उसे काम आता [illegible] या नहीं। बस, दो हाथ और दो टाँगें होनी चाहिएँ। सो मैं भी [illegible] रुपये रोज़ पर नौकर रख लिया गया। ऊपर से रुपया रोज़ "स्ट्राइक अलौउंस" का मिलता था। और मिलना भी चाहिए था, हम पचास-साठ आदमी अपनी जान पर खेल कर कारखाना चला रहे थे। [illegible] हमें गालियाँ और धमकियाँ सुननी पड़ती थीं। बस्ती के दूसरे मज़दूरों ने हमारा हुक्का पानी बंद कर दिया था, दो-एक बार ईंट-पत्थर भी [illegible] पर फेंके गये, पर मैंने कहा—"जो भी हो, हड़ताल करके भूखा मरने से यों मरना बेहतर होगा।"

हाँ, तो मैं कारखाने में होने को तो हो गया, मगर काम [illegible] आता ही नहीं था। ईमान की बात यह है कि हरनाम ने "[illegible] मास्टर" से झूठ कह दिया था कि मैंने इसे काम सिखा दिया है, [illegible] यह एक मशीन को सँभाल सकता है। कारखाने वालों को इस [illegible] बात की बड़ी चिंता थी कि ज़्यादा-से-ज़्यादा मशीनों को [illegible] किसी तरह चालू रखें, ताकि अखबारों में यह ऐलान कर [illegible] हड़ताल फेल हो गयी है और कारखाने में काम [illegible] रहा है। हरनाम ने मुझसे [illegible] रखा था कि [illegible]

रुपया रोज़-का-रोज़ मिल जाता था। मैंने सोचा, अपनी बला से—ग्राहक उम्र भर चले ...'

इतने में मुझे मशीन के काम का थोड़ा-बहुत अंदाजा भी हो गया था—कोई ख़ास मुश्किल नहीं था। काम तो सारा मशीन करती थी, हमें तो सिर्फ़ बटन दबाकर मशीन चालू करना और उसकी देखभाल करनी होती थी। चौथे दिन हरनाम की मशीन का कोई पुर्जा बिगड़ गया और उसे किसी दूसरी मशीन पर लगा दिया गया। जाते जाते उसने मेरे कान में धीरे से कहा—"क्यों ममदू, सँभाल लेगा न ?" मैंने कहा—"तू चिंता न कर। इसमें कौन से हाथी घोड़े लगते हैं।" फिर भी वह जाते जाते लौटकर आया और कहने लगा—"ज़रा [illegible] सँभाल कर काम कीजियो।"

हाँ, तो वह दूसरी मशीन पर चला गया। अब [illegible] और कितनी ही मशीनों की तरह बेकार खड़ी थी, मगर मेरा [illegible] खटाखट काम कर रही थी।

खटाखट, खटाखट, मशीन चली जा रही थी और मैं [illegible] पर अशअश कर रहा था कि वाह-वाह, [illegible] अक्ल दी है। इन्सानों का काम मशीनों से लेते हैं। [illegible] उगते थे तो मेरा बाप ऊन [illegible] और [illegible] था, फिर मेरी माँ चरखे पर ऊन कातती थी, फिर [illegible] तैयार करते थे, फिर करघे पर मेरा बाप [illegible] [illegible] इन सब की कई दिन की मेहनत से [illegible] तैयार होता था। और यहाँ [illegible] [illegible] आपसे आप [illegible] जा रहा था, [illegible] था, [illegible] जा रहा था, लपेटा जा रहा था [illegible] [illegible] मेरा बाप और [illegible] और [illegible]

हरनाम को रहने के लिए अपनी कोठरी में जगह दे दी और उसने अगले दिन ही मुझे कारखाने मे नौकर करवा दिया। हड़ताल की वजह से मालिक हर किसी को रखने के लिए तैयार थे, चाहे उसे काम आता हो या नहीं। बस, दो हाथ और दो टाँगें होनी चाहिएँ। सो मैं भी डेढ रुपये रोज़ पर नौकर रख लिया गया। ऊपर से रुपया रोज़ "स्ट्राइक-अलौउस" का मिलता था। और मिलना भी चाहिए था, हम पचास-साठ आदमी अपनी जान पर खेल कर कारखाना चला रहे थे। रोज़ हमें गालियाँ और धमकियाँ सुननी पडती थीं। बस्ती के दूसरे मजदूरों ने हमारा हुक्का पानी बंद कर दिया था, दो-एक बार ईंट-पत्थर भी हम पर फेंके गये, पर मैंने कहा--"जो भी हो, हड़ताल करके भूखा मरने से यों मरना बेहतर होगा।"

हाँ, तो मैं कारखाने में होने को तो हो गया, मगर काम मुझे आता ही नहीं था। ईमान की बात यह है कि हरनाम ने "वीविंग मास्टर" से झूठ कह दिया था कि मैंने इसे काम सिखा दिया है, अब यह एक मशीन को सँभाल सकता है। कारखाने वालों को इन दिनों इस बात की बड़ी चिंता थी कि ज्यादा-से-ज्यादा मशीनों को किसी-न-किसी तरह चालू रखें, ताकि अखबारों में यह ऐलान कर सकें कि हड़ताल फेल हो गयी है और कारखाने में काम वैसे का-वैसा ही हो रहा है। हरनाम ने मुझसे कह रक्खा था कि कुछ भी हो तो यही जाहिर कीजियो कि मै सब कुछ जानता हूँ। वैसे मेरी मशीन उसके पास ही थी। मैं बराबर उसको देखता रहता और जो वह करता, वही मैं करने लगता। उसने बटन दबाया, मैंने भी दबा दिया। उसने तेल की कुप्पी लेकर पुर्जों में तेल दिया, मैंने भी यही किया। उसने मशीन तेज़ की, मैंने भी की। तीन दिन तो मैंने इसी तरह गुज़ार दिये। पगार तो हफ्ते-की-हफ्ते मिलने वाली थी, मगर "स्ट्राइक-अलौउस" का

रुपया रोज़-का-रोज़ मिल जाता था। मैंने सोचा, अपनी बला से—ट्रक उम्र भर चले ...'

इतने में मुझे मशीन के काम का थोड़ा-बहुत अंदाजा भी हो गया था—कोई ख़ास मुश्किल नहीं था। काम तो सारा मशीन करती थी, हमें तो सिर्फ़ बटन दबाकर मशीन चालू करना और उसकी देखभाल करनी होती थी। चौथे दिन इरनाम की मशीन का कोई पुर्ज़ा बिगड़ गया और उसे किसी दूसरी मशीन पर लगा दिया गया। जाते जाते उसने मेरे कान में धीरे से कहा—"क्यों ममदू, सँभाल लेगा न?" मैंने कहा—"तू चिंता न कर। इसमें कौन से हाथी घोड़े लगते हैं।" फिर भी वह जाते-जाते लौटकर आया और कहने लगा—"ज़रा [illegible] सँभाल कर काम कीजियो।"

हाँ, तो वह दूसरी मशीन पर चला गया। अब उसकी [illegible] और कितनी ही मशीनों की तरह बेकार पड़ी थी, मगर मेरी [illegible] खटाखट काम कर रही थी।

खटाखट, खटाखट, मशीन चली जा रही थी और [illegible] पर अचम्भा कर रहा था कि वाह-वाह, [illegible] अक्ल दी है। इन्सानों का काम मशीनों से लेते हैं। [illegible] जाते थे तो मेरा बाप ऊन को धो और धुनकर उसमें से [illegible] था, फिर मेरी माँ चरखे पर ऊन कातती थी, फिर [illegible] तैयार करते थे, फिर करघे पर मेरा बाप कम्बल बुनता था [illegible] और इन सब की कई दिन की मेहनत के बाद [illegible] [illegible] था। और यहाँ यही सब काम मशीने कर रही [illegible] [illegible] धागा आपसे आप काता जा रहा था, [illegible] था, कम्बल बुना जा रहा था, लपेटा जा रहा था। और [illegible] [illegible] मेरा बाप और माँ और सब कई कई [illegible], [illegible]

नगर के सारे जुलाहे मिलकर एक महीने में इतना कपड़ा नहीं बुन सकते थे, जितना यह मशीन एक घंटे में बुन रही थी। वाह-वाह! सुभान तेरी कुदरत! अब इस कपड़े की बोरियाँ बनेंगी, इन बोरियों में धान और गेहूँ और दालें और मिर्चें और नमक भरकर दूसरे मुल्कों को भेजा जायगा।

खटाखट, खटाखट, मशीन चली जा रही थी। मैंने बिजली की फिरकी घुमाकर मशीन की रफ्तार और तेज़ कर दी। इस तेज़ रफ्तार में मुझे मज़ा आ रहा था। कपड़ा अब और तेजी से बुना जा रहा था और इसी तेजी से मेरा दिमाग काम कर रहा था। मैं सोच रहा था, यह सन किस देश की सैर करेगा? कितना अच्छा होता कि इसी कपड़े में लिपटकर मैं भी .

खटाखट-खट, खटाखट-खट, मशीन के गीत में मुझे एक बेसुरी-सी आवाज सुनायी थी। सामने देखा तो एक जगह से ताने का तार टूट गया था। धागे की नली इधर-से-उधर बेकार घूम रही थी, मगर बुनाई नहीं हो रही थी। हमारे करघे पर जब कभी ऊन का धागा टूट जाता था तो मेरा बाप बड़ी फुर्ती और आसानी से टूटे हुए सिरे को एक दूसरे के साथ मिलाकर एक मरोड़ी दे देता था। बस, वह फिर जुड़ जाते और ताने-बाने का सिलसिला फिर जारी हो जाता। एकदम मेरे दिमाग में भी यही आया कि ममदू, तू भी यही कर। और यह जरा भी न सोचा कि यह बिजली से चलने वाली मशीन है, बुद्दू जुलाहे का करघा नहीं है। बिना मशीन को बंद किये मैंने हाथ बढ़ाकर टूटे हुए तारों के सिरे पकड़ने चाहे, मगर मेरी बाँहें छोटी थीं और मशीन लम्बी थी। एड़ियाँ उठाकर आगे को झुकना पड़ा। खटाखट-खट, खटाखट-खट, मशीन चले जा रही थी। जैसे ही धागे का टूटा सिरा मेरे हाथ में आया, मेरे पाँव ज़मीन से उठ गये और मैं मुँह के बल मशीन पर तने हुए कपड़े पर

आ रहा। खटाखट-खट, खटाखट खट, मशीन चल रही थी, कपड़े को और उसके साथ मुझे अंदर को घसीट रही थी। कपड़ा लोहे के रोलर पर आ रहा था और मैं मशीन के फ़ौलादी जबड़े की तरफ़ खिंचा चला जा रहा था। उस वक्त तो सरकार, मुझे अपनी मौत सामने खड़ी नज़र आ गयी। करता क्या न करता, हाथ-पाँव मारे, मगर कपड़े के झोल में मैं इतना उलझ गया था कि किसी तरह न बचने की सूरत न निकली। और एक बार जो मैंने टाँगों को ज़ोर से झटका दिया तो बायाँ पाँव उस कमबख्त मशीन के न जाने किस पुर्ज़े में फँस गया। अब मैं पाँव छुड़ाना चाहता हूँ, मगर पाँव नहीं निकलता। [illegible] उसी में घिसटता चला जा रहा हूँ। मेरे मुँह से चीख़ निकल गयी और कितने ही मज़दूर मेरी तरफ़ दौड़े। '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हा—"बिजली बंद करो! बिजली बंद करो!" मगर [illegible] बटन न दबा पाया था कि खटाक से आवाज़ आयी [illegible] महसूस हुआ कि किसी भयानक [illegible] ने मेरा [illegible] है। और फिर मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा गया।

था कि उसने 'वीविंग मास्टर' से बात की थी कि कारख़ाने की तरफ़ से मेरी कुछ मदद कर दी जाय, मगर उसने यह कह कर साफ़ इन्कार कर दिया था कि अनाड़ी मज़दूर अगर अपनी भूल से अपनी टॉग और हमारी मशीन तोड़ डाले तो हम इसके जिम्मेदार नहीं हैं। मतलब यह कि मिल-मालिकों की तरफ़ से हर्जाना मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। ख़ैर, मैंने दिल को समझाया कि ममदू, खुदा तेरे संतोष की परीक्षा ले रहा है, घबरा मत। जब मैं बस्ती आया और गाड़ी से उतर कर दीवार का सहारा लेता हुआ अपनी कोठरी तक पहुँचा तो रहमत, मगू और बहुत से मजदूर मुझे देखने आये। थोड़ी देर तो सब चुपचाप खड़े मेरी टूटी टॉग को देखते रहे, और उनको इस तरह घूरते देख कर न जाने क्यों मेरे गुस्से का पारा एकदम तेज हो गया और मैं चिल्लाया—"यहाँ खड़े-खड़े क्या घूरते हो? क्या पहले कभी एक टॉग का आदमी नहीं देखा? निकलो यहाँ से!" इस पर वे सब एक-एक करके चले गये, पर रहमत वहीं खड़ा रहा। फिर धीरे-से बोला—"ममदू, यह खुदा ने तुझे हड़ताल तोड़ने की सज़ा दी है!" बस, यह कहा और वहाँ से चला गया। पर यह सुनकर मुझे ज़रा भी गुस्सा न आया; सिर्फ़ सोचा—'कितना बदकिस्मत है यह रहमत, इसे संतोष की क़द्र ही नहीं मालूम। और फिर कौन जानता है, शायद खुदा हड़ताल तोड़ने वालों ही से खुश हो और इसीलिए इतनी सख्त दुर्घटना के बावजूद मेरी जान बच गयी। वरना सब हड़ताल तोड़ने वालों की टॉगे टूटनी चाहिएँ थी।'

हाँ, तो सरकार, संतोष की परीक्षा में मैं पूरा उतरा। जब रबड़ या लकड़ी की टॉग न मिली तो मैंने संतोष की टॉग लगवा ली और कबाड़ी के यहाँ से दो बैसाखियाँ ले लीं और उस दिन से इनके सहारे ही कूद-फाँद कर चल लेता हूँ। जब मेहनत मज़दूरी मुमकिन न हुई, भीख

माँगना शुरू कर दिया। रोज़ी देने वाला तो खुदा है इन्सान तो उसका ज़रिया है। फिर किसी के सामने हाथ फैलाने में कहाँ की शर्म? असल में तो हम खुदा के सामने हाथ फैलाते हैं। आप यह सुनकर हैरान होंगे, सरकार, कि भीख माँग कर मैं डेढ़-दो रुपये रोज से ज्यादा ही कमा लेता हूँ। फिर कारख़ाने में जान खपाने से हासिल? और हाँ, जब हरनाम बीवी ब्याह कर ले आया और उसने मुझे मेरी ही कोठरी से निकाल दिया, तब से मैंने यहाँ सड़क की पटरी पर अपना घर बना लिया। छत और फ़र्श, बंगले और कोठियाँ, पलंग और कुर्सियाँ—ये सब तो बेकार के चोंचले हैं। संतोष की छत और संतोष का फ़र्श हो तो सड़क का किनारा भी महल बन जाता है!

कितने ही महीने मैंने संतोष से भीख माँग कर बिता दिये। मुझे इस फ़क़ीरी की ज़िन्दगी में मज़ा आने लगा। न कोई घर-बार के झंझट, न मेहनत, न मज़दूरी, न मालिक मकान को किराया देना, न चूल्हे-चक्की का बखेड़ा। फ़कीर की ज़िन्दगी ही असल में आज़ाद ज़िन्दगी है। मैं और तमाम बंधनों, झगड़ों, और [illegible] से आज़ाद हो गया, पर कटी हुई टाँग होने पर भी एक [illegible] अब भी जाड़े की रातों को तंग करती थी। जब मेरे पास [illegible] जमा हो जाते थे, मैं रात को चुपके से [illegible] पहुँच जाता था। आप जानते ही हैं, सरकार, इस बाज़ार में अमीर-गरीब [illegible] सब बराबर हैं। जिसकी जेब में दाम हों, वह जो माल चाहे खरीद सकता है—चाहे वह लंगड़ा-लूला फ़कीर ही क्यों न हो!

जाड़े की एक रात का ज़िक्र है कि मैं [illegible] ने एक कोठे पर चढ़ गया। यह [illegible] मेरे लिए [illegible], अक्सर मैं वहीं आया करता था। [illegible] था। मगर उस रात को [illegible] मुझे देखते ही [illegible]

बोली—"क्यों रे लॅंगड़े, फिर आ गया तू? पर आज दो रुपये से काम नहीं चलेगा। गुदड़ी में पाँच रुपये हैं तो ठीक है, नहीं तो रास्ता पकड़ो।" उन दिनों मुझे भीख में अच्छी रकम मिल रही थी। चालीस के नोट तो मैंने अपनी गुदड़ी के अन्दर सिले हुए थे और सात-आठ रुपये के पैसे इस वक्त भी मेरे पास थे। मैंने कहा—"मैं लॅंगड़ा हूँ तो क्या हुआ? पैसा मेरा भी दो टाँग से चलता है। माल दिखाओ, पाँच रुपये भी मिल जायँगे।"

पर वह बड़ी घाघ थी। लौंडिया नहीं दिखायी। मुझसे पाँच रुपये लेकर मुझे अंदर के कमरे में ढकेल दिया। अंदर जाकर मैंने बैसाखियाँ तो फेंक दीं और पलग पर बैठ गया। लौंडिया कोई सचमुच नयी मालूम होती थी, सिर झुकाये बैठी थी।

मैंने कहा—"मेरी जान, सूरत तो दिखाओ। मैं लॅंगड़ा हूँ, पर तुम्हें खुश कर दूँगा।"

मगर उसने जो घूँघट उठाया, तो यकीन मानिए, सरकार, मेरे पाँव तले की जमीन निकल गयी।

वह चिल्लायी "ममदू।"

और मैं चिल्लाया—"छोटी बीबी, तुम यहाँ?"

वह बोली—"हाँ, ममदू, यह मेरी किस्मत का फेर है। तुम्हारी टाँग क्या हुई?"

मैंने कहा—"यह मेरी किस्मत का फेर है।"

वह रो रही थी। मैंने दिलासा देने की कोशिश की तो वानो मुझसे लिपटकर सिसकियाँ भरने लगी। मैंने ध्यान से देखा, इन तीन बरसों में उसका वह रंग-रूप ही न रहा था। बीस-इक्कीस बरस की उम्र में तीस-पैंतीस की लगती थी। आँखों के गिर्द गड्ढे, पाउडर सुर्खी के होते हुए भी रंगत पीली। दुबली इतनी हो गयी थी कि बाँहों की

हड्डियों ही हड्डियाँ रह गयी थीं।

जब आँसू कुछ देर को थमे तो उसने मुझे अपना हाल बताया। जिस ड्राइवर के साथ वह भागी थी, वह बड़ा बदमाश निकला। कलकत्ते लाकर दो-तीन महीने तो बानो का जेवर बेच-बेचकर खूब ऐश किये, फिर जब गुजारे की कोई और सूरत न रही तो उसे कुकर्म पर मजबूर किया और एक रात को उसे एक सेठ के हाथों बेचकर गायब हो गया।

मैंने कहा—"पर, छोटी बीबी, तुमने पुलिस में क्यों न रपट लिखवायी? तुम तो पढ़ी-लिखी हो, तहसीलदार साहब को लिखा होता, वह आकर तुम्हें ले जाते और इस ड्राइवर की चमड़ी उधेड़ देते।"

वह बोली—"पुलिस में रपट लिखवाती तो इसके सिवा और क्या होता कि मुझे जबरदस्ती वापस घर भेज दिया जाता। जो [illegible] मुझ पर गुजर चुका था, उसके बाद मैं [illegible] जाती?"

[illegible] यह कि बेचारी बानो एक [illegible] अंत में इस घटिया रंडीखाने में पहुँची थी, [illegible] से आयी थी। मैंने कहा—"अब तुम [illegible] [illegible] मेरे साथ चलो [illegible] भी इस पाप के नर्क में न रहने दूँगा।"

वह आँखें नीची करके बोली—"पर [illegible] बुरी बीमारी है।"

अब मुझे इन फुंसियों की वजह समझ में आयी जो बानो के [illegible] को दागदार बनाये हुए थीं। मगर मैंने कहा—[illegible] [illegible] कौन-सा [illegible] [illegible] तुम्हारा इलाज कराऊँगा, तुम अच्छी हो जाओगी।

सुना है, अब हर बीमारी का इलाज हो जाता है। चलो मेरे साथ, इसी वक्त।"

अभी हम ये बातें कर ही रहे थे कि दरवाज़े पर खटखट हुई। मैंने कहा—"आ जाओ।" बूढ़ी नायिका बोली—"अबे ओ, लँगड़े! पाँच रुपये दिये हैं, कोई रात भर का ठेका नहीं लिया। दूसरा ग्राहक इंतज़ार कर रहा है।" पीछे एक भयानक, काला-सा, मोटा-तगड़ा आदमी नशे में झूम रहा था। मैंने एक हाथ से बानो का हाथ पकड़ते हुए और दूसरे हाथ से बैसाखियाँ उठाते हुए कहा—"यह लड़की मेरे साथ जा रही है। अब यह यहाँ नहीं रहेगी।"

इसके बाद न जाने क्या कुछ हुआ, ठीक याद नहीं। शायद नायिका ने उस आदमी को इशारा किया। वह बानो को दबोचने के लिए आगे बढ़ा। बानो की चीख ज़रूर याद है—ऐसी चीख जो पत्थर-दिल को भी मोम कर दे। न जाने कब और कैसे मेरी बैसाखी हवा में उठी और उस शराबी की खोपड़ी पर गिरी। अगले पल में वह ज़मीन पर बेहोश पड़ा था और नायिका चिल्ला रही थी—"खून! खून! कोई आओ, दौड़ो, इस खूनी को पकड़ो।" और बानो डरी आँखों से मुझे देख रही थी और कह रही थी —"ममदू, यह तूने क्या किया?" और मैं कह रहा था—"छोटी बीबी, तुम चिन्ता न करो। उस दिन मैं ताँगा वक्त पर न लाया था, यह उसी की सज़ा है।"

और सो, वह दिन और आज का दिन। दस बरस कैद काटी, परसों ही छूटा हूँ। अब फिर वही सड़क का किनारा है, वही सतोष का फ़र्श है और सतोष की छत। सुनता हूँ, इन दस सालों में एक बहुत बड़ी लड़ाई हो चुकी है। हुई होगी। सुनता हूँ, लाखों हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के हाथ मारे गये और इसी कलकत्ते की सड़कों पर खून के दरिया बहे। बहे होंगे। यह भी सुनता हूँ कि देश आज़ाद हो गया

। हुआ होगा। मुझे तो पता नहीं। मैं तो इतना जानता हूँ कि
भीख अब पहले से भी कम मिलती है और बहुत से रहम दिल बाबू भी
जब पास से गुजरते हैं और पैसा देने के लिए जेब में हाथ डालते हैं
तो जेब खाली पाते हैं ..

फिर भी मैं खुदा का शुक्र अदा करता हूँ, सरकार, कि जिन्दा हूँ।
शुक्र अदा करता हूँ कि कम-से-कम एक टाँग तो है, दल्लू की तरह
बिलकुल अपाहिज नहीं हूँ। शुक्र अदा करता हूँ कि दो [illegible] रोज
नहीं, तो चार-पाँच आने तो भीख में मिल ही जाते हैं। और शुक्र अदा
करता हूँ कि बानो अब तक जिन्दा है और मेरे पास है...वह बुढ़िया
आप देखते हैं न? सामने बैठी अपने सफेद बालों में से जुएँ [illegible]
कर मार रही है। वही बानो है—बानो, जिसका रंगत [illegible]
जैसे मैदा और शहद, और जो कभी काले रेशमी बुर्के में से मुँह [illegible]
कर मेरी तरफ मुस्करा देती थी तो ऐसा लगता था [illegible]
चाँद निकल आया हो, जिसकी बड़ी-बड़ी [illegible]
और जिसके बालों की भीनी भीनी खुशबू [illegible]
अब उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ चुकी हैं, सारा [illegible]
फोड़े फुंसियों से पटा पड़ा है और बहुत दिन हुए उ[illegible]
[illegible] चुका है। अब उसे न बचपन के सुख याद हैं, न [illegible]
न [illegible] लिदार साहब, न खानम, न [illegible]। [illegible]
[illegible] रहती है और आप ही आप न जाने क्या [illegible]

[illegible] जिन्दा है और मेरे [illegible]

[illegible] शुक्र अदा [illegible], बानो जिन्दा है [illegible]
[illegible] सकता हूँ . . .

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

•

वह स्वभावत. स्वतंत्र था। युग और समय के बन्धनो मे मुक्त, नस्ल और धर्म, राष्ट्र और जाति, सभी बन्धनों से आज़ाद' वह स्वेच्छाचारी, वेफिक्र और बेपरवाह था। जहाँ चाहे घूमता, कहीं भी ठहर जाता। जब जी चाहता, फिर चल खड़ा होता। आज यहाँ, कल वहाँ। ज़िन्दगी का कारवाँ जिधर मुड़ता, वह भी उधर का रुख़ करता। कभी पथिक तो कभी पथ-निर्माता .आज काफ़िले की धूल तलाश कर रहा है, तो कल क़ाफ़िले का नेतृत्व कर रहा है। कभी ज़िन्दगी को बच्चों का खेल समझ कर उस पर हँस रहा है और हँसा रहा है, कभी जीवन और दुख के बन्धनों को एक ही बता कर रो रहा है और रुला रहा है। कभी आसमान की तरफ़ अपनी फ़रियादों के सन्देश-वाहक भेज रहा है, तो कभी खुदा को ललकार रहा है। कभी रात के तारों में अपने साथी तलाश कर रहा है, तो कभी ज़मीन और आस्मान दोनों को फूँक कर अपने (अस्तित्व) से अपना ससार आप पैदा कर रहा है। साराश यह कि वह शायर था।

सारी दुनिया शायर को पसन्द करती थी, उसके गीत सुनकर सिर धुनती थी, पर उसकी वेफिक्री की ज़िन्दगी और आशिकाना शायरी के कारण बड़े-बूढे उसके चाल-चलन को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। कभी वह बाग में निकल जाता तो फूलों पर बुलबुल को आशिक देख कर ग़ज़ल कह देता। कभी पनघट पर कोई देहाती सुन्दरी दिखायी दे जाती तो उसके गीत गाने लगता। कभी अलाव के गिर्द बैठे हुए गाँव के बूढों की ज़बानी किसी पुराने ज़माने के आशिक़ और माशूक़ के जोड़े का ज़िक सुन लेता तो मसनवी (पद्य-कथा) लिख डालता।

हाँ, तो शायर को सारी दुनिया पसन्द करती थी, पर राजा उससे [illegible] था। इसका कारण यह था कि शायर राजा का आदर नहीं [illegible] था। सारे राज्य मे शायर ही ऐसा था जिसका सिर राजा के

सामने न झुकता था। जब कभी राजा की सवारी निकलती तो उसकी भूखी-नंगी प्रजा सड़क के दोनों ओर पंक्ति बाँधे जय-जयकार से उसका स्वागत करती (यह और बात थी कि हर एक के पीछे एक सिपाही तलवार या संगीन लिये खड़ा रहता था कि अगर वक्त पर राजा के सामने सिर न झुके तो एक कचोका देकर उसे सचेत कर दिया जाय)। हाँ, तो उन झुके हुए सिरों में राजा को शायर का सिर कहीं नज़र न आता और उसका सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है। शायर अपने को स्वयं काव्य-लोक का सम्राट समझता था। भला उसे क्या पड़ी थी कि एक मामूली राजा की सेवा में हाज़िर हो।

सब लड़कियाँ खामोशी से पानी भर रही थीं। उनके गालों में गढे पड़े हुए थे। सुडौल बाँहों पर मांस गायब होकर हड्डियाँ निकल आय थीं आँखों के गिर्द गढे थे, बाल मिट्टी में अटे थे और कपड़े फटे थे। उनके ओंठों पर हँसी तो क्या, मुस्कराहट भी ग़ायब थी। चकित हो उसने पूछा—"तुम सब को क्या हुआ?" तब उन्होंने बताया कि गाँव में काल पड़ा है और कितने ही दिन से वे सब पानी पी-पीकर दिन काट रही हैं। "मेरी राधा कहाँ है?" उसने पूछा, और उनमें से एक बोली—"वह देखो सड़क पर . ।"

यह सड़क राजा की मोटर के लिए बनायी जा रही थी और काल के मारे बहुत-से किसान उस पर काम कर रहे थे। राजा के आदमी हाथों में कोड़े लिये इधर-उधर फिर रहे थे कि यदि कोई एक क्षण के लिए भी काम में सुस्ती दिखाये तो उसकी खबर लें। शायर इधर-उधर देखता, राजा को तलाश करता जा रहा था कि उसे काँच की चूड़ियाँ खनकने की आवाज़ सुनायी दी। वह पहचान गया कि यह उसकी राधा की चूड़ियों की मधुर खनखनाहट है। घूमकर देखा तो राधा एक भारी मुगरी हाथ में लिये सड़क कूट रही थी। भूख और परिश्रम से उसकी सारी सुन्दरता मिट्टी में मिल गयी थी। न आँखों में पहली-सी चमक थी और न छाती में उभार। जिन केशों की उपमा वह नागिनों से दिया करता था, वे आज कीचड और मिट्टी में अटे हुए थे। हाथों की मेहदी उड चुकी थी और उसकी जगह हथेलियों से खून फूट आया था। नगे पाँवों मे छाले पड़े हुए थे। वह तो उसको पहचान भी न सकता, यदि उसके हाथों मे वही काँच की नीली चूड़ियाँ न होतीं, जो पिछले त्योहार पर स्वय उसने लाकर दी थी। वह सिर झुकाये सड़क कूट रही थी। धमाके के साथ चूड़ियाँ खनक रही थीं और वायुमण्डल में अजीब मेरा सगीत गूंज रहा था। और एक बार जब उसने मुगरी को

ार से सड़क पर मारा तो उसकी कलाई लकड़ी से टकरायी और कई चूड़ियाँ टूट कर जमीन पर गिरीं। पर राधा को उनकी कोई सुध न था। वह सड़क कूटती रही। पत्थर और मिट्टी के साथ अपनी नीली चूड़ियों को भी सड़क में दफ़न करती रही। . चूड़ियाँ नीले रंग की चूड़ियाँ . जो शायर ने उसे लाकर दी थीं।

शायर ने सोचा, ये ग्रामवासी अपने हरे-भरे खेतों को छोड़कर क्यों यहाँ सड़क कूटने आ गये। राधा ने चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिए अपनी जवानी, अपनी सुन्दरता, अपनी इज्ज़त को क्यों बेच दिया? सच्चा आनन्द केवल आकाश के नीचे इन हरे-भरे खेतों में मिल सकता है..। और फिर वह खेतों में गया। लहलहाते हुए खेत, जहाँ तक निगाह जाय, हरियाली-ही हरियाली—गेहूँ की बालियाँ सूरज की रोशनी में झूम-झूम कर हँस रही थीं। यह देखकर शायर का मुरझाया हुआ दिल एक बार फिर आनन्द और आशा से प्रफुल्लित हो उठा। उसने सोचा—मैं जाकर राधा को ले आता हूँ। उसकी कोमल कलाइयाँ सड़क कूटने के लिए नहीं बनायी गयीं। उनमें तो कंगन जगमगाना चाहिए। मैं खेतों में हल चलाऊँगा, बीज बोऊँगा, फसल पैदा करूँगा। दोपहर को मेरी राधा सिर पर टोकरी धरे, मेरे गीत गाती हुई, मेरा खाना लेकर आया करेगी। कितना सुख, कितना आनन्द होगा! यही खेत स्वर्ग बन जायेंगे। पर उसी समय उसने देखा कि साहूकार के आदमी आये और उन्होंने उन सभी खेतों और फसलों की कुर्की करा ली। किसानों की बेदखली कर दी गयी। खेत साहूकार के हो गये और शायर को साहूकार ने [illegible] कर दुतकार दिया—"क्यों बे, क्या [illegible] जाता है?"

[illegible] तक शायर न [illegible] था, न [illegible]। [illegible] उसकी कल्पना पर चोट-पर-चोट पड़ रही थी [illegible]

हुए पड़े थे, उसकी बुलबुल का मीना छिदा हुआ था, उसकी राधा की चूड़ियाँ टूट चुकी थीं। उसे दुनियाँ में न कहीं सौंदर्य दिखता था, न प्रेम। फिर कविता किस पर लिखे ? फिर उसने सोचा, प्राकृतिक दृश्य मनुष्य की करतूतों से सुरक्षित हैं। इन सब झगड़ों से दूर...बहुत दूर .. मैं पहाड़ की चोटी पर चढ जाऊँगा और वहाँ से सूरज को डूबते हुए देखूँगा—जब पश्चिमी आकाश पर सन्ध्या की लालिमा छायी होगी और हवा में ठडक और सुगध—प्रकृति के इस सौन्दर्य पर मैं कविता लिखूँगा।

और वह पहाड़ की चोटी पर चढ गया। आकाश पर सचमुच सन्ध्या की लाली छायी थी—लाल और पीली! और काले बादल छाये हुए थे। इस रङ्गीन दृश्य को देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसके कानों में एक गीत की मधुर तान गूँजने लगी, लेकिन . ...हवा में ठडक क्यों नहीं और वायुमडल में सारे जहान के फूलों की सुगध की जगह धुएँ और जली हुई हड्डियों की दुर्गन्ध कैसी ?... ..ऐसी गध, जैसी श्मशान की जलती हुई चिताओं में से आती है। . फिर उसने गौर से देखा, तो मालूम हुआ कि क्षितिज पर सूर्यास्त के कारण लाली नहीं छायी थी, बल्कि राजा के सिपाहियों ने मजदूरों की एक बस्ती में आग लगा दी थी और उसके लाल और पीले शोले और काले धुएँ के बादल थे, जो आकाश पर छाये हुए थे। राजा की मोटर उधर से गुज़री थी और उन अँधेरे, गले-सड़े, दुर्गन्धित झोंपड़ों को देखकर राजा के नाज़ुक दिल को बड़ी ठेस लगी थी और उसने हुक्म दे दिया था कि इस सारी बस्ती को रात होने से पहले जला कर राख कर दिया जाय, जिसमे कि भविष्य मे सैर-तफरीह के समय ऐसा भद्दा दृश्य उसकी ...त को बिगाड़ने का कारण न बने। बस्ती जला दी गयी थी और झोंपड़ों मे कई मजदूर और उनकी स्त्रियाँ और बच्चे भी जल मरे

थे। यह दुर्गन्ध उन्हीं की हड्डियों के जलने की थी, जो शोलों से झुलसती हुई गर्म हवा वायुमंडल में फैला रही थी।

शायर जानता था कि उन शोलों और धुएँ के बादलों के पीछे आकाश पर अवश्य ही सन्ध्या की लाली फैली होगी। पर वह उस समय तक दृष्टि से ओझल रहेगी, जब तक जुल्म की आग का यह धुआँ छाया हुआ है।

मज़दूरों की जलती हुई बस्ती पर फिर नज़र डाली तो ऐसा मालूम हुआ कि यह इन्क़लाब की आग है जिसकी लपटें सारी दुनिया को झुलस डालेंगी और उसी समय उसके दिमाग में, आग [illegible] की एक लहर, दिल में होता हुआ उसकी ज़बान तक आई और उस दुनिया को ललकार कर वह पुकार उठा—

हुए पड़े थे, उसकी बुलबुल का मीना छिदा हुआ था, उसकी राधा की चूड़ियाँ टूट चुकी थी। उसे दुनियाँ में न कहीं सौंदर्य दिखता था, न प्रेम। फिर कविता किस पर लिखे ? फिर उसने सोचा, प्राकृतिक दृश्य मनुष्य की करतूतों से सुरक्षित है। इन सब झगड़ों से दूर...बहुत दूर .. मैं पहाड़ की चोटी पर चढ जाऊँगा और वहाँ से सूरज को डूबते हुए देखूँगा—जब पश्चिमी आकाश पर सन्ध्या की लालिमा छायी होगी और हवा में ठडक और सुगध—प्रकृति के इस सौन्दर्य पर मैं कविता लिखूँगा।

और वह पहाड़ की चोटी पर चढ गया। आकाश पर सचमुच सन्ध्या की लाली छायी थी—लाल और पीली! और काले बादल छाये हुए थे। इस रङ्गीन दृश्य को देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसके कानों में एक गीत की मधुर तान गूँजने लगी, लेकिन .. ..हवा में ठडक क्यों नहीं और वायुमडल में सारे जहान के फूलों की सुगध की जगह धुएँ और जली हुई हड्डियों की दुर्गन्ध कैसी? .. .ऐसी गध, जैसी श्मशान की जलती हुई चिताओं में से आती है। ..फिर उसने गौर से देखा, तो मालूम हुआ कि क्षितिज पर सूर्यास्त के कारण लाली नहीं छायी थी, वल्कि राजा के सिपाहियों ने मजदूरों की एक बस्ती में आग लगा दी थी और उसके लाल और पीले शोले और काले धुएँ के बादल थे, जो आकाश पर छाये हुए थे। राजा की मोटर उधर से गुजरी थी और उन अँधेरे, गले-सड़े, दुर्गन्धित झोंपड़ों को देखकर राजा के नाजुक दिल को बड़ी ठेस लगी थी और उसने हुक्म दे दिया था कि इस सारी बस्ती को रात होने से पहले जला कर राख कर दिया जाय, जिससे कि भविष्य में सैर-तफरीह के समय ऐसा भद्दा दृश्य उसकी तबियत को बिगाडने का कारण न बने। बस्ती जला दी गयी थी और झोंपड़ों में कई मजदूर और उनकी स्त्रियाँ और बच्चे भी जल मरे

थे। यह दुर्गन्ध उन्हीं की हड्डियों के जलने की थी, जो शोलो से झुलसी हुई गर्म हवा वायुमंडल में फैला रही थी।

शायर जानता था कि उन शोलों और धुएँ के बादलो के पीछे आकाश पर अवश्य ही सन्ध्या की लाली फैली होगी। पर वह उस समय तक दृष्टि से ओझल रहेगी, जब तक ज़ुल्म की आग का यह धुआँ छाया हुआ है।

मज़दूरों की जलती हुई बस्ती पर फिर नजर डाली तो ऐसा मालूम हुआ कि यह इन्क़लाब की आग है जिसकी लपटें सारी दुनिया को झुलस डालेगी और उसी समय उसके दिमाग़ से, आत्म विश्वास की एक लहर, दिल में होती हुई उसकी ज़बान तक आयी और जैसे दुनिया को ललकार कर वह पुकार उठा—

नसीबे-खुफ्ता के शाने झिंझोड़ सकता हूँ;
तिलिस्मे-गफलते-इन्साँ को तोड़ सकता हूँ[1]।

और फिर ललकारा—

पकड़ कर हाथ मसनद से उठा देता हूँ सुलताँ को,
बिठा देता हूँ लाकर तख़्त पर कैसर के, दहक़ाँ[2] को।

मज़दूरों के झोंपड़े जल रहे थे और शायर की कल्पना में वे शोले एक ज्वालामयी आकृति बन कर नाच रहे थे। आग और खून, खून और आग, धुएँ के बादल, लपकते हुए शोले! यह सब देखकर शायर पुकार उठा—

आ रहे है जंग के बादल वह मंडलाते हुए,
आग दामन में छिपाये, ख़ून बरसाते हुए।

---

१ सोये हुए भाग्यवालों के कन्धे झिंझोड सकता हूँ। इन्सानों की गफ़लत का जादू तोड सकता हूँ। २. किसान।

खून की बू लेके जंगल से हवाएँ आयेंगी,
कोहसारों[1] की तरफ से सुर्ख आँधी आयगी,
जा-ब-जा आबादियों में आग-सी लग जायगी।

(मजाज)

और इस आग में, इन शोलों में, इस विध्वंस में उसे एक नयी दुनिया, एक अच्छी दुनिया की झलक दिखायी दी। वह बोल उठा—

शहर यह दिलशाद[2] होगा एक दिन,
यह खँडर आबाद होगा एक दिन।
फिर नसीमे-जाँफजा[3] इठलायगी,
लाला-ओ-गुल पर बहार आ जायगी।
रेगे-साहिल[5] परनियाँ[6] हो जायगी,
यह जमीं फिर आसमाँ हो जायगी।

(सरदार जाफरी)

शायर की आवाज में जादू था, या यह शायद उसकी आवाज न थी, बल्कि उसकी सारी जाति की आवाज थी। क्योंकि उसके गीतों की गूँज सारे देश में फैल गयी। उसे सुनकर जो सो रहे थे, वे जाग उठे, जो थक कर बैठ रहे थे, वे फिर मंजिल की ओर चल खड़े हुए, जो निराश हो चुके थे, उनकी आँखें फिर आशा से चमक उठीं। शायर ने देखा कि इन्सानों का एक उमड़ता हुआ सैलाब उसको चारों ओर से घेरे हुए है।

किसान

मजदूर

---

१. पर्वत। २. खुश। ३ दिमाग को तर करने वाली हवा। ४. फूल। ५. किनारे का बालू। ६ रेशमी पट।

कारीगर
भिखारी
पीड़ित
अनाथ
सड़क कूटने वाली स्त्रियाँ, और उनमें उसकी राधा भी।

पर वह स्वयं अब केवल राधा का शायर न था। आज वह सारी जाति, सारे राष्ट्र का शायर था—एक नयी दुनिया का सन्देश-वाहक—उन मज़बूरों, किसानों, मजदूरो और पीड़ितो की ओर देख कर उसने वादा किया—

'आज से मै अपने गीतो मे आतिशपारे[1] भर दूँगा,
मद्धिम लचकीली तानों मे जीवट धारे भर दूँगा।
जीवन के अँधियारे पग पर मिशअल[2] लेकर निकलूँगा
अब से मेरे फन[3] का मकसद ज़ंजीरें पिघलाना है,
आज से मै शबनम के बदले अंगारे बरसाऊँगा।
(साहिर)

राधा की आँखों में आँसू सूखकर अब उसके ओंठों पर आशा और खुशी की मुस्कराहट थी। उसकी साड़ी अब भी फटी हुई थी और आँचल, जो सिर पर पड़ा रहता था, तार-तार था। फिर भी उस फटे आँचल में उसका चेहरा चन्द्रमा की भाँति चमक रहा था। उसे देख कर शायर को बहुत-से सुनहरे सपने याद आ गये। सैकड़ों अरमानों और उमगों ने उसके दिल में करवट ली। पर उसने राधा की ओर देख कर कहा—

---

१. चिंगारियाँ। २. मशाल। ३. कला।

तेरे माथे पे यह आँचल बहुत ही खूब है लेकिन,
तू इस आँचल से एक परचम[3] बना लेती तो अच्छा था।

(मजाज)

राधा के सिर से आँचल नीचे आ गया और वह मजदूरों तथा किसानों की उस फौज में मिल गयी, जो नारे लगाती, शायर के गीत गाती जा रही थी। आँधी का एक तीव्र झोंका आया और राधा का आँचल झंडा बन कर लहराने लगा।

शायर भी उस क्रान्तिकारी सेना के साथ चल रहा था और डंके की आवाज में सुर मिला कर गा रहा था--

डंके की चोट से आसमान गूँज रहा है।
हमारे पाँव के नीचे की धरती ऊबड़-खाबड़ है।
लेकिन नवप्रभात के पुत्रो,
बढ़े चलो, बढे चलो!
हम ऊषा का द्वार खटखटायेंगे,
और सुबह को दुल्हन को बाहर लायेंगे।
हम रात्रि के अंधकार को चीरते जायेंगे
चाहे रास्ते में विन्ध्याचल जैसे पहाड़ क्यों न बाधक हों।"

(नजरुल इस्लाम)

जनता के विद्रोही नारों ने राजा के महल की दीवारों को हिला दिया। वह अपने दरबारियों पर बरस पड़ा। गरज कर बोला--"इस विद्रोह का जिम्मेदार कौन है?"

उन्हों ने कहा "शायर।"

राजा चिल्लाया—"शायर को खरीद लो!"

---

१. झंडा।

दरबारी भागे-भागे शायर के पास पहुँचे और कहा—"राजा तुम्हें दुनिया की हर दौलत, हर ऐश और आराम देने के लिए तैयार है। इस विद्रोह की आग बुझा दो तो वह तुम्हारा मुँह हीरे-जवाहरात से भर देगा।"

शायर ने जेब से चने और मूँगफलियाँ निकाल कर एक फंकी लगाते हुए जवाब दिया—"मैं इन्सान हूँ, चने खाता हूँ। तुम्हारे राजा की तरह शुतुरमुर्ग नहीं हूँ जो कंकड़-पत्थर खाऊँ।"

राजा ने जब यह सुना तो गुस्से से चिल्लाया--"शायर को कैद कर दो।"

सो शायर को एक काल कोठरी में डाल दिया गया। बीस वर्ष का सश्रम कारावास का दंड दिया गया। उसका अपराध यह बताया गया कि उसने विद्रोह के लिए उत्तेजित करने वाली कविताएँ लिखीं। और कारागार में शायर ने अपनी राधा को सम्बोधित करके एक कविता लिखी.

बीस साल कैद
कागज़ के एक पुर्जे पर लिखे हुए कुछ शब्दों की बुनियाद पर
लेकिन मेरी संगिनि,
इसमें दुखी होने की कोई बात नहीं।
यह उनकी कायरता और डर है . ...
अपने दिल से निराशा को दूर करो।
हँसो, कि यह हमारी जीत है।
अगले वर्ष या उससे अगले वर्ष या उससे अगले, कौन जानता है!
हम यहाँ बैठे भविष्य के स्वप्न देखेंगे।
अपने झुके हुए सर को ऊँचा करो।
और सुनो

सुनो, तूफ़ानी लहरों की आवाज,
जैसे एक शान्त समुद्र मे उबाल आ गया हो !
बहुत जल्द लहरे दुनिया के लौह द्वारों को खटखटाने वाली है !

(याग मू)

शायर की आवाज कारागार की दीवारों से टकराकर वायुमंडल में फैलती रही और क्रान्तिकारी सेनाएँ उसके गीत गाती हुई राजा के महल के पास आ पहुँचीं। उनके स्वागत के लिए शायर की आवाज कारागार की दीवारों को पार करती हुई आयी--

रुक न सकता था इन्क़लाबे-ज़मीं[1] ,
कर गया काम सोज़े-नाकामी[2] ।
दे उठी लौ खुद आरज़ूए-हयात[3] ।
कब्र-ओ-उम्मीद के मनाज़िल मे[4]
काफ़िला वलवलों[5] का आज, ए दोस्त,
सूए-आज़ादिये-वतन हे रवॉ[6]
क़ल्ब[7] से गरचे उठ रहा है धुऑं,
एक सितारा उफ़क[8] पे चमकेगा
मंजिलें होंगी खुद गुज़ार बहुत,
सर नगूँ[9] होंगे ताजदार बहुत,
उनके टूटे हुए संगीनों पर
सरफ़रोशों का नाम चमकेगा ।

(पुश्किन)

राजा घबरा गया। उसने शायर को बुला कर कहा—' अभी भागी

फ़ौजों को पीछे हट जाने को कहो, नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ।"

शायर ने मुस्करा कर आसमान की ओर देखा, जहाँ काले-काले बादल अभी से राजा का शोक मना रहे थे और बिजली की चमक और कड़क साम्राज्य की मृत्यु का सन्देश सुना रही थी। वह बोला—"मैं मरने के लिए तैयार हूँ। पर—

"सुनो ए बस्तगाने-.ज़ुल्फ़े-गेती[1],
सदा क्या आ रही है आस्माँ से
कि आज़ादी का एक लमहा[2] है बेहतर
गुलामी की हयाते-जाविदाँ[3] से।

(जोश)

अब तो राजा आपे से बाहर हो गया। उसने कहा—"शायर की ज़बान गुद्दी से खींच लो।"

जल्लाद ने छुरा निकाला और शायर की ज़बान काट डाली गयी। मगर शायर के चेहरे से वह विजयपूर्ण मुस्कराहट दूर न हुई—"यह ज़बान से नहीं, मेरे दिल से पैदा हो रहे हैं। ज़बान काटने से मेरी आवाज़ बन्द न होगी।"

और सचमुच शायर की आवाज और भी जोर से गूँज उठी, क्योंकि यह उसी की आवाज थोड़े ही थी, यह तो लाखों-करोड़ों की आवाज थी। और दुनिया ने शायर का संदेश सुना—

मैं देख रहा हूँ जो किसी को दिखाई नहीं दे रहा
समय की चोटियों पर से आते हुए
काँटों वाले ताज को पहने
मैं इन्कलाब को उभरते हुए देख रहा हूँ।

---

१. धरती के केश से बँधे। २. क्षण। ३ अमर जीवन।

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

सुनो! भावी पीढ़ियो से आने वाले साथियो!
सुनो एक शायर की आवाज़!
ये पंक्तियाँ जो बीस वर्ष तक विजयी शान से छायी रहीं
आदि से अन्त तक तुम्हारी भेंट करता हूँ।

(मायका फ़िस्की)

क्रांतिकारी सेना अब राजा के महल के फाटक तक पहुँच चुकी थी। राजा को अपनी मौत सामने खड़ी दिखायी दी। उसके क्रोध में अब भय की मात्रा अधिक थी। कंपित स्वर में वह पागलों की भाँति चिल्लाया—"यह शायर नहीं, जादूगर है। इसके शरीर के टुकड़े टुकड़े करके बिखेर दो।"

जल्लादों ने ऐसा ही किया। शायर के टुकड़े उड़ा दिये गये। पर राजा की यह सबसे बड़ी भूल थी, क्योंकि जहाँ कहीं भी शायर के शरीर का एक टुकड़ा भी गिरा, वहाँ से एक और शायर पैदा हो गया, जिसकी आवाज और भी ज़ोर से गूँजी और जहाँ कहीं उसके खून की एक बूँद भी गिरी, वहाँ से इन्कलाब का एक सिपाही पैदा हुआ। इस तरह राजा का राज्य खतम हो गया और कहानी भी खतम हो गयी। पर शायर की आवाज—

जहाँ कहीं दर्द है, वहाँ मैं हूँ,
हर आँसू पर जो बहाया जाता है,
मैं अपने आपको सूली पर लटकता महसूस करता हूँ।

(मायका फ़िस्की

अब भी गूँज रही है।

आप पूछ सकते हैं कि उस शायर का नाम क्या था? हो सकता का नाम सुकरात हो, जिसे पुराने यूनान को सी० ग्र.ई० डो०' ने नौजवानों का सदाचार बिगाड़ने के अपराध में गिरफ्तार करके ज़हर

का प्याला पिलाया था। हो सकता है उसका नाम 'सरमद' हो, जिसे विद्रोही और सूफ़ी विचारो के फैलाने के जुर्म में औरंगजेब ने कत्ल कराया। हो सकता है, उसका नाम वाल्टह्विटमैन हो, जिसे अमरीकन पुलिस ने अपनी कविताओं का संग्रह अपने पास रखने के जुर्म मे कैद किया। मुमकिन है उसका नाम भगत सिंह हो, जो कविता न लिखने पर भी कवि था और "मेरा रंग दे बसन्ती चोला" गाते हुए फाँसी पर चढ गया। हो सकता है, उसका नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर हो, जिसके गीतों को अँग्रेजो ने बागियाना क़रार दिया और आज भी जिसके गीत गाने के लिए पुलिस से इजाज़त लेनी पड़ती है। मुमकिन है, उसका नाम यागलू हो, जिसे च्यांग काई शेक ने बीस वर्ष कैद में रक्खा। सम्भव है, उसका नाम मखदूम मुहीउद्दीन हो, जिसके गीतों ने तिलंगाना में क्रांति मचा दी। सम्भव है, उसका नाम 'साहिर लुधियानवी हो, जिसके 'सवेरा' को पाकिस्तान सरकार ने बन्द कर दिया, मगर जो उसके बाद भी इन्कलाब की 'शाहराह'* पर चलता रहा और हो सकता है उसका नाम अली सरदार जाफरी हो, जिसे बम्बई सरकार ने कई बार गिरफ़्तार किया।

—o—

*एक प्रगतिशील उर्दू पत्रिका का नाम—शाब्दिक अर्थ—राज्य-पथ।

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

"बहुत अच्छा अब मैं कभी आपको अपना मुँह न दिखाऊँगा।" बार बार ये शब्द ठाकुर कृष्ण सिंह के कानो में गूँज रहे थे, उसको चिढ़ा रहे थे, उसको गुस्सा दिला रहे थे, उसे परेशान और हैरान कर रहे थे।

"बहुत अच्छा, अब मैं कभी आपको अपना मुँह न दिखाऊँगा," यह कह कर वह चला गया था। संग-मर्मर के फर्श पर उस के पालिशहीन, टूटे, कीलें निकले हुए जूतो की दूर होती हुई आवाज में दृढ़ता थी, एक भयानक सकल्प था, एक चुनौती थी।

अपनी रोबदार, खिचड़ी रग की मूँछों को आदत के अनुसार अनायास ताव देते हुए, कृष्ण सिंह ने सोचा, 'दुनिया को क्या हो गया है? किसान जमींदारों के खिलाफ विद्रोह कर रहे हैं, मज़दूर पूँजीपतियों से बागी हो रहे हैं, बेटे बाप का विरोध करके घर छोड़ रहे हैं, हजारों साल के रिश्ते टूट रहे हैं, सदियों के सामाजिक सिद्धान्त

मिट्टी में मिल रहे हैं। देश के ही दो टुकड़े नहीं हुए, हर खानदान के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। बेटा बाप से, बेटी माँ से, पत्नी पति से अलग हो रही है, दर्जनों पीढियों तक मिल-जुल कर रहते हुए घरानों में फूट पड रही है, भाई भाई से अलग हो रहा है। यह सब आखिर क्यों ?

यह सवाल उस के दिमाग की दीवारों से टकरा कर गूंजा—आखिर क्यों ?

उसने यह सवाल अपने दीवानखाने की दीवारों से किया, अपने बाप-दादा परदादा से किया, जिनके बेजान तैलचित्र दीवारों पर लगे हुए, अपनी मुर्दा आँखों से उसे घूर रहे थे, श्रीकृष्ण महाराज और उनकी प्रिया राधा से किया, जिनकी मूर्तियाँ उस के और दुनिया के झगडों से बेखबर अपने अमर प्रेम में खोयी हुई थीं, महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी के संगीन बुतों से किया, जो ताकों में रखे हुए मुस्करा रहे थे खद्दर के तिरंगे झंडे से किया, जो दीवार पर लटका था, भारत माता से किया, जो सुनहरा ताज पहने, तस्वीर के फ्रेम में से झाँक रही थी, पत्थर के खम्भों से किया, जो छत को सिर पर उठाये हुए खडे थे, कानून की जिल्दबंद पुस्तकों से किया, जो शीशे की अलमारियों में सजी हुई थीं, दीवार पर लटके हुए कैलंडर से किया, जो समय के पक्षी की भाँति हवा में फड़फड़ा रहा था, टिक-टिक करती दीवार-घडी से किया, जो उसे न जाने क्या सन्देश दे रही थी, लोहे की तिजोरी से किया, जो कोने में रखी हुई थी और जिस में कई लाख के नोट, जवाहरात, तमस्सुक और जायदाद के कागज बन्द और अन्त में अपनी दूध समान सफेद खद्दर की टोपी से किया, उसी तिजोरी पर ऐसे रखी हुई थी, जैसे तख्त पर ताज रखा हो।

यह बेचैनी यह अव्यवस्था, यह विद्रोह, समाज के शान्त जल में

यह उथल-पुथल आखिर क्यों ?

उस के मौन ओठों से निकला हुआ यह खामोश सवाल लचकदार रबड़ की गेंद की तरह हर दीवार, फर्श और से छत से बार-बार टकराया, पर कहीं से कोई जवाब न मिला। तस्वीरें, मूर्तियाँ, दीवारें, हर चीज खामोश थी और अत्यधिक हैरान। दीवानखाना ही नहीं, सारा मकान वीरान मालूम होता था। एक बेटे के चले जाने से हर कमरा सुनसान हो गया था, हर चीज़ बेकार नज़र आती थी। जैसे उसका ज़िद्दी, बदतमीज़, नालायक, लेकिन प्यारा बेटा इस मकान की सारी रूह निकाल ले गया हो। या शायद वह स्वयं ही इस मकान की रूह था और उस के जाने के बाद यह शानदार सजा हुआ मकान मर गया, मिस्र के बादशाहों के मक़बरों की तरह, जिनमें लाश के साथ दुनिया की प्रत्येक आराम और सजावट की चीज़ दफन कर दी जाती थी।

(२)

उसका बेटा—आनन्द !

बाईस वर्ष हुए, उसने उस का नाम आनन्द रखा था, क्योंकि बेटे के जन्म पर उस को जितना आनन्द मिला था, वह जिन्दगी में कभी नसीब न हुआ था। उस का बेटा उस के जीवन में सचमुच आनन्द ही बन कर आया था। जिस दिन उस का जन्म हुआ, उसी दिन कृष्ण सिंह ने नये जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में अपना पहला मुकदमा जीता था। कानूनी हलकों में एक नौजवान वकील की इस कामयाबी की कितनी चर्चा हुई थी। इसके बाद उसे बहुत से महत्वपूर्ण मुकदमे मिले थे। पर इन सब बातों से अधिक उस को इस बात की खुशी थी कि उस ने एक बेगुनाह को, जो संयोग से कानून के भयानक

शिकंजे में जकड़ गया था, फाँसी से बचा लिया था। उस गरीब किसान की आँखों में अनकही कृतज्ञता की चमक जो उस दिन कृष्णसिंह ने देखी थी, उसने मुद्दत तक उसे प्रसन्न रखा था। इन्साफ और इन्सानियत, यही उसने अपने पेशे का मकसद समझा था।

इन्साफ, इन्सानियत और आजादी! नौजवान कृष्ण सिंह ने जब एक नेता के मुँह से आजादी का नारा पहली बार सुना था तो उसे ऐसा महसूस हुआ कि यह उसके धड़कते हुए हृदय की ही प्रतिध्वनि है, उसके जवान खून की ही पुकार है।

आनन्द चार वर्ष का था, जब कृष्ण सिंह पहली बार जेल-यात्रा पर गया था। तीन वर्ष विभिन्न जेलों में कटे। लेकिन इस अरसे में वह एक बार भी घबराया नहीं, एक बार भी उसने हिम्मत न हारी, एक बार भी उसने कर्त्तव्य से मुँह न मोड़ा। आजादी की सुन्दर देवी ने पतिव्रता पत्नी और पुत्र के प्यार को भुला दिया। लेकिन रिहाई के कुछ महीने पहले उसे बचकाने हाथ के गलत इमला में लिखा हुआ एक पत्र मिला 'मेरे प्यारे पिता जी, नमस्ते!' और सूर्य की आजाद किरणों की भांति संगीन दीवारों पर से होती हुई एक सुखद-स्मृति उसकी काल कोठरी को आलोकित कर गयी। एक भोले-भाले, घुंघराले बालों वाले चेहरे की याद—एक चेहरा, जो उसकी अपनी तस्वीर था, उसकी मासूमियत की तस्वीर, उसके और रामा के प्रेम की यादगार। कागज पर प्यार और भोले अन्दाज में कीड़े मकोड़ों की तरह रेंगते हुए अक्षरों में से वह नन्हा चेहरा मुस्करा रहा था जिसे भुला रखा था, इतने दिनों तक न आने की शिकायत कर रहा था। कुछ क्षणों के लिए कृष्ण सिंह का आदर्श डगमगा गया। आजादी की देवी का आलोकित चेहरा मद्धिम पड़ गया। [illegible] जी [illegible] [illegible] [illegible] याद कर [illegible] [illegible], पत्नी और पुत्र के [illegible]

पहुँच जाय। किन्तु पुत्र के पत्र की चन्द लाइनें ही पढ़ी थीं कि उसे अपनी क्षणिक दुर्बलता पर लज्जा आने लगी। पत्र में लिखा था—'माता जी की ओर से न घबराएँ। मैं उनकी सेवा और देख-भाल करता हूँ। माता जी कहती हैं, "तुम भी पिता जी-जैसे बनना।" सो मैंने भी सोच लिया है कि आप ही की तरह मैं भी इन्कलाबी बनूँगा।' उसका बेटा उसके पद-चिन्हों पर चलेगा, इन्कलाबी बनेगा, यह सोच कर कृष्ण सिंह का मन गर्व से भर गया।

इसके चन्द हफ्ते बाद मालूम हुआ कि उसकी पत्नी बीमार है। बेटे ने लिखा 'माता जी बहुत दुबली हो गयी हैं, और आपको बहुत याद करती हैं।' चन्द दोस्तों ने सलाह दी, "सरकार को अर्जी दे दो कि पत्नी की बीमारी के कारण पैरोल पर रिहा कर दिया जाय।" पर राधा ने स्वयं अपने काँपते हुए हाथों से लिख भेजा—'आप मेरे कारण हरगिज परेशान न हों और किसी हालत में भी सरकार से अस्थायी रिहाई की प्रार्थना न करें। मैं नहीं चाहती कि आपकी गर्दन किसी के सामने झुके। यदि भाग्य में है तो आपके छूटने पर आपके दर्शन कर लूँगी।' कृष्ण सिंह ने पैरोल की दरख्वास्त फाड़ कर फेंक दी।

फिर गाँधी-इर्विन समझौता हो गया। कृष्णसिंह को भी दूसरे काँग्रेसी कैदियों के साथ छोड़ दिया गया। अपने नगर पहुँचा तो वहाँ उसका शानदार जलूस निकाला गया। लेकिन जब वह घर पहुँचा तो वहाँ राधा मौजूद न थी। आनन्द जो काफी लम्बा हो गया था, दरवाजे पर चुपचाप खड़ा था। पिता को देख कर, उसके चेहरे पर जरा भी मुस्कराहट न आयी। उसने सिर्फ खामोशी से आँखें उठा कर देखा, जिनमें आँसू—छलकते आँसू—कह रहे थे, 'पिता जी, आप नहीं आये और माता जी चली गयीं।'

शिकंजे में जकड़ गया था, फाँसी से बचा लिया था। उस गरीब किसान की आँखों में अनकही कृतज्ञता की चमक जो उस दिन कृष्णसिंह ने देखी थी, उसने मुद्दत तक उसे प्रसन्न रखा था। इन्साफ और इन्सानियत, यही उसने अपने पेशे का मकसद समझा था।

इन्साफ, इन्सानियत और आजादी! नौजवान कृष्ण सिंह ने जब एक नेता के मुँह से आजादी का नारा पहली बार सुना था तो उसे ऐसा महसूस हुआ कि यह उसके धड़कते हुए हृदय की ही प्रतिध्वनि है, उसके जवान खून की ही पुकार है।

आनन्द चार वर्ष का था, जब कृष्ण सिंह पहली बार जेल-यात्रा पर गया था। तीन वर्ष विभिन्न जेलों में कटे। लेकिन इस अरसे में वह एक बार भी घबराया नहीं, एक बार भी उसने हिम्मत न हारी, एक बार भी उसने कर्त्तव्य से मुँह न मोड़ा। आजादी की सुन्दर देवी ने पतिव्रता पत्नी और पुत्र के प्यार को भुला दिया। लेकिन रिहाई के कुछ महीने पहले उसे बचकाने हाथ के गलत इमला में लिखा हुआ एक पत्र मिला 'मेरे प्यारे पिता जी, नमस्ते!' और सूर्य की आजाद किरणों की भाँति सगीन दीवारों पर से होती हुई एक सुखद-स्मृति उसकी काल कोठरी को आलोकित कर गयी। एक भोले-भाले, घुँघराले बालों वाले चेहरे की याद—एक चेहरा, जो उसकी अपनी तस्वीर था, उसकी मासूमियत की तस्वीर, उसके और राधा के प्रेम की यादगार। कागज पर प्यारे और भोले अन्दाज में कीड़े-मकोड़ों की तरह फैलते हुए अक्षरों में से वह नन्हा चेहरा मुस्करा रहा था उसे बुला रहा था, इतने दिनों तक न आने की शिकायत कर रहा था। कुछ क्षणों के लिए कृष्ण सिंह का आदर्श डगमगा गया। आजादी की देवी का आलोकित चेहरा मद्धिम पड़ गया। कैदी का जी चाहा कि लोहे की सलाखों को तोड़ कर भागता हुआ, पत्नी और पुत्र के पास

पहुँच जाय। किन्तु पुत्र के पत्र की चन्द लाइनें ही पढ़ी थीं कि उसे अपनी क्षणिक दुर्बलता पर लज्जा आने लगी। पत्र में लिखा था—'माता जी की ओर से न घबराएँ। मैं उनकी सेवा और देख-भाल करता हूँ। माता जी कहती हैं, "तुम भी पिता जी-जैसे बनना।" सो मैंने भी सोच लिया है कि आप ही की तरह मैं भी इन्कलाबी बनूँगा।' उसका बेटा उसके पद-चिन्हों पर चलेगा, इन्कलाबी बनेगा, यह सोच कर कृष्ण सिंह का मन गर्व से भर गया।

इसके चन्द हफ्ते बाद मालूम हुआ कि उसकी पत्नी बीमार है। बेटे ने लिखा 'माता जी बहुत दुबली हो गयी हैं, और आपको बहुत याद करती हैं।' चन्द दोस्तों ने सलाह दी, "सरकार को अर्ज़ी दे दो कि पत्नी की बीमारी के कारण पैरोल पर रिहा कर दिया जाय।" पर राधा ने स्वयं अपने काँपते हुए हाथों से लिख भेजा—'आप मेरे कारण हरगिज़ परेशान न हों और किसी हालत में भी सरकार से अस्थायी रिहाई की प्रार्थना न करें। मैं नहीं चाहती कि आपकी गर्दन किसी के सामने झुके। यदि भाग्य में है तो आपके छूटने पर आपके दर्शन कर लूँगी।' कृष्ण सिंह ने पैरोल की दरख्वास्त फाड़ कर फेंक दी।

फिर गाँधी-इर्विन समझौता हो गया। कृष्णसिंह को भी दूसरे काँग्रेसी कैदियों के साथ छोड़ दिया गया। अपने नगर पहुँचा तो वहाँ उसका शानदार जलूस निकाला गया। लेकिन जब वह घर पहुँचा तो वहाँ राधा मौजूद न थी। आनन्द जो काफी लम्बा हो गया था, दरवाज़े पर चुपचाप खड़ा था। पिता को देख कर, उसके चेहरे पर ज़रा भी मुस्कराहट न आयी। उसने सिर्फ खामोशी से आँखें उठा कर देखा, जिनमें आँसू—छलकते आँसू—कह रहे थे, 'पिता जी, आप नहीं आये और माता जी चली गयीं।'

(३)

इसके बाद वह और उसका वेटा दुनिया में अकेले रह गये। वे बाप-वेटे ही नहीं, एक-दूसरे के दोस्त भी थे। कृष्ण सिंह कचहरी से आकर आराम कुरसी पर बैठ जाता और आनन्द से कहता—"क्यों आनन्द, आज स्कूल मे क्या हुआ?" और वेटा स्कूल की हर बात सुनाता—"आज हमारे मास्टर जी की बकरी ने दो नन्हे-नन्हें बच्चे दिये। . आज मैं जामुन के पेड़ से गिर पड़ा। यह देखिए घुटने में चोट आ गयी। आज स्कूल के सामने से अँगरेजी फौज जा रही थी। वे बिलकुल लाल-लाल मुँह वाले बन्दरो की तरह थे। वे सब हमें ऐसे घूर रहे थे, जैसे खा जायगे। कई लड़के तो डर कर भाग गये। पर मैं बिलकुल नहीं डरा, पिता जी।" और उस अवसर पर उसने कहा था -- "शाबाश, वेटा! तुम से यही उम्मीद थी!"

फिर एक दिन जब वह दस बरस का हो गया था, आनन्द ने स्कूल से आकर कहा था—"पिता जी, मैं स्कूल से निकाल दिया गया हूँ। मैं गाँधी टोपी पहन कर जाता हूँ न। हेड मास्टर साहब कई बार टोक चुके थे। आज कोई अँगरेज इन्सपेक्टर आया था। टोपी देख कर मेरे पीछे पड़ गया। कहने लगा, 'अँगरेजी सरकार की देन बयान करो।' मैंने कह दिया 'मेरे पिता जी और हजारो देश-भक्तों को कई-कई बरस कालकोठरी में कैद रक्खा। इससे बडी और क्या देन हो सकती है?' यह सुन कर, वह जल ही तो गया। दोनो हाथों पर छः-छः बेंत लगाये। यह देखिए निशान। पर, पिता जी, मैं बिलकुल नहीं रोया, बिलकुल नहीं!" यह कहते-कहते, वह बाप से लिपट कर रो पड़ा था।

चौदह वर्ष बाद भी कृष्ण सिंह को अपने गालों पर वेटे के आँसुओ नमी महसूस हो रही थी।

आनन्द को पढ़ने के लिए भेज कर, वह घर में अकेला रह गया था। उसका सारा समय कानूनी किताबों की छान-बीन में, मुकदमों की तैयारी में या स्थानीय राजनीति के झगड़ों-बखेड़ों में कटता। उसकी वकालत चमक उठी थी। जिले की अदालत में अब कोई उसके मुकाबले का न था। चन्द मास बाद ही हाईकोर्ट तक में उसकी धाक बैठ गयी। माहवार आमदनी कुई सौ से कई हजार रुपयों तक पहुँच गयी। अब वह मुकदमा हाथ में लेने से पहले यह न पूछता था कि मुलजिम निर्दोष या दोषी है, बल्कि सिर्फ यह जानना चाहता था कि वह उसकी फीस देने योग्य है या नहीं।

कृष्ण सिंह हर दृष्टि से उन्नति कर रहा था। जिले की अदालत से हाई कोर्ट, म्युनिसिपल कमेटी की मेम्बरी से चेयरमैनी और तहसील काँग्रेस कमेटी से जिला काँग्रेस कमेटी तक जा पहुँचा था। सूबा काँग्रेस कमेटी के अगले चुनाव में उसका आ जाना निश्चित था। आने वाले एसेम्बली के चुनाव में उसे काँग्रेस की ओर से खड़ा करने की बातें हो रही थीं। उसने सोचा कि आनन्द छुट्टियों में घर आयेगा तो इन बदले हुए हालत को देख कर बहुत खुश होगा। आनन्द जब आया तो बाप यह देख कर बहुत सतुष्ट हुआ कि बेटे के सूट-केस में ही नहीं, बिस्तरे में भी किताबें बँधी हुई थीं। 'इसका मतलब है,' उसने सोचा, 'कि वह और लड़कों की तरह आवारगी और ऐयाशी में समय नष्ट नहीं कर रहा है।' पर उनमें से अधिकाँश पुस्तकें कालेज के कोर्स की नहीं थीं, बल्कि अंग्रेजी और हिन्दी के कवियों के कविता-संग्रह थे या विभिन्न देशों के इन्कलाबों के इतिहास।

"शाबाश, बेटा। मुझे विश्वास है कि तुम भी अपने बाप की तरह राजनीतिज्ञ ही बनोगे।"—उसने कहा था। पर आनन्द ने कहा था - "माफ कीजिए पिता जी, मैं राजनीतिज्ञ नहीं, इन्कलाबी बनना चाहता

हूँ।" और कृष्ण सिंह ने किसी हद तक खिसियानी हँसी हँस कर कहा था—"इन्क़लाब लाना तो हम सभी चाहते हैं।" पर न जाने क्यों, आनन्द के चेहरे पर कुछ ऐसे भाव थे, जैसे उसे विश्वास न हुआ हो।

आनन्द को छुट्टियों में आये अभी चन्द रोज़ ही हुए थे कि एक दिन कोई किसान आया। ज़मींदार ने उसे बेदख़ल कर दिया था और जमींदार के लठबन्द गुंडों ने किसान को मारा-पीटा था। वह चाहता था कि कृष्ण सिंह मुक़दमा लड़ कर, उसकी जमीन बहाल करा दे।

"वकील साहब," उसने गिड़गिडा कर कहा—"मेरी ज़मीन वापस दिलवा दो। मैं सारी उम्र तुम्हारे बाल-बच्चों को दुआ दूँगा।"

पर कृष्ण सिंह के मुंशी ने डॉट कर पूछा—"अबे, वकील साहब की फ़ीस भी है तेरे पास ?"

किसान ने काँपते हुए हाथों से अपनी चादर के कोने में बँधी हुई गाँठ में से पाँच रुपये का मसला हुआ नोट निकाला और मुंशी जी ने उसे धक्के मार कर कमरे के बाहर कर दिया था। उसी समय आनन्द कहीं बाहर से वापस आया। इतने वर्षों के बाद भी वह बातचीत कृष्ण सिंह के कानों में गूँज रही थी, मानो वह आज के नाटक का पहला दृश्य हो।

"क्यों, पिता जी, आपने इस किसान का मुक़दमा क्यों नहीं लिया ?"

मुंशी ने हस्तक्षेप करते हुए, कहा—"छोटे ठाकुर, ये साले तो न जाने कहाँ से आ जाते हैं। दमड़ी पल्ले नहीं और चले हैं इतना बडा वकील करने। कर लेगा कोई फटीचर मुख्तार।"

"मैं पिता जी का जवाब सुनना चाहता हूँ।"

"बेटा, मुंशी जी ठीक कहते हैं।"

"तो आप इसका मुकदमा कीजिए। फीस मैं दूँगा।"

कुछ क्षणों के लिए कृष्ण सिंह लाजवाब हो गया था। फिर उसने कहा था—"पर, वेटा, मै इसका मुकदमा नहीं ले सकता। जानते हो, यह किसान किसकी प्रजा था?"

"किसका?"

"तुम्हारे दादा का, मेरे पिता जी का।"

"इसलिए आप इसे न्याय से वञ्चित रखना चाहते हैं?"

"यह हमारा निजी सवाल नहीं, सारी जमींदार जाति का सवाल है। अगर इस तरह के मुकदमे करके हम इन किसानों को शह देते रहें तो ये लोग तो सिर चढ जायँगे। कल हम जमींदारों की बेदखली कराने पर तुल जायँगे।"

"वह तो एक दिन होगी ही।"

"तुम तो बच्चों की-सी बातें करते हो।"

"बच्चों की-सी बातें नहीं, पिता जी, आपकी-सी बातें कर रहा हूँ, जैसी बातें आप कभी किया करते थे।"

और अगले दिन आनन्द ने कहा था—"मुझे इम्तहान की तैयारी करनी है, इसलिए छुट्टियाँ खत्म होने से पहले ही बनारस वापस जाना चाहता हूँ।"

और बाप ने उसे रोकने के लिए झूठा आग्रह भी न किया था।

(४)

उस दिन से बाप और बेटे के विचारों और अनुभवों के बीच एक पार न की जा सकने वाली दीवार खड़ी हो गयी थी। कभी-कभी आनन्द छुट्टियों में घर आता और किसी विषय पर बहस छिड़ जाती तो कृष्ण सिंह को ऐसा महसूस होता कि उसका बेटा किसी और ही

दुनिया का निवासी है।

ठाकुर कृष्ण सिंह सूबा कांग्रेस कमेटी में ले लिये गये और एसेम्बली के मेम्बर भी बन गये, पर आनन्द ने पिता को बधाई न दी। आनन्द को आल इन्डिया डिबेट में पहला इनाम मिला, पर ठाकुर कृष्ण सिंह, एम० एल० ए०, को कोई खुशी न हुई, क्योंकि बहस का विषय था, 'सोशलिज्म में ही हिन्दुस्तान की मुक्ति है,' और आनन्द ने इसके पक्ष में धुआँधार भाषण दिया था।

ठाकुर कृष्ण सिंह पार्लियामेन्ट सेक्रेटरी नियुक्त किये गये। आनन्द सूबे के स्टुडेन्ट्स फेडरेशन का सेक्रेटरी चुना गया।

ठाकुर कृष्ण सिंह, एम० एल० ए०, ने जमींदारी कानफ्रेन्स का सभापतित्व किया। आनन्द सोशलिस्ट पार्टी में शरीक हो गया।

ठाकुर कृष्ण सिंह ने क्षत्रियों के कानफ्रेन्स का उद्घाटन किया। आनन्द ने एक सोशलिस्ट परचे में जात-पाँत और साम्प्रदायिक संस्थाओं के विरुद्ध लेख लिखा।

ठाकुर कृष्ण सिंह एक महाराजा का मुकदमा प्रीवी कौंसिल में लड़ने के लिए विलायत गये और कई लाख रुपये फीस के वसूल कर के लौटे। आनन्द को यूनिवर्सिटी से, विद्रोही होने के अपराध में, निकाल दिया गया।

जब लड़ाई शुरू हुई तो ठाकुर कृष्ण सिंह ने दूसरे सत्याग्रहियों की तरह सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस को सूचना दी कि वे अमुक समय, अमुक स्थान पर सत्याग्रह करेंगे। और सुपरिटेन्डेन्ट पुलीस ने बड़े आदर से उनको गिरफ्तार करके, ए क्लास का कैदी बना दिया। तीन महीने के बाद ठाकुर कृष्ण सिंह ने जेल से निकल कर, खद्दर-प्रचार का 'रचनात्मक' म शुरू कर दिया, और अपने एक दोस्त के नाम से अंग्रेज़ी को जूते सप्लाई करने का ठेका ले लिया। इसमें उन्हें कई लाख

का मुनाफा हुआ। आनन्द ने युद्ध के विरोध में जलूस निकाला और लाठी चार्ज के वाद एक टॉमी ने उसे अपने फौलादी जूते से ठोकर मारी—उसी जूते से, जो शायद उसके पिता ने ही फौज को सप्लाई किया था।

६ अगस्त, सन् ४२ को ठाकुर कृष्ण सिंह वड़े इन्तजाम से दूसरे नेताओं के साथ स्पेशल ट्रेन मे वैठा कर, एक अज्ञात स्थान पर ले जाये गये और वहाँ एक पुराने किन्तु आरामदेह क़िले में उन्हें शाही मेहमान वना कर रखा गया। ६ अगस्त, सन् ४२ को आनन्द ने वम्बई में लाठियाँ खायीं, रुलाने वाली गैस सूघी और राष्ट्रीय झंडा फहराने के अपराध में पिटा और पकडा भी गया।

नज़रवन्दी के दिनों में ठाकुर कृष्ण सिंह ने श्रीमद्भागवद् का पाठ किया और योग वशिष्ठ का अध्ययन किया। जेल में आनन्द ने कार्लमार्क्स की किताव, 'पूजी' पढ डाली।

नजरवन्दी के वीच सरकार ने ठा० कृष्ण सिंह को अपना रसोइया वुला लेने की अनुमति दे दी, जो रोज उनके लिए पूरी, कचौरी, मिठाई वनाने लगा, जैसे वह उनके घर मे वनाया करता था। दूसरे राजनैतिक वदियों के साथ आनन्द ने भी भूख हडताल की और सत्रह दिन तक उपवास किया।

ठा० कृष्ण सिंह का वजन नज़रवन्दी में दस पौंड वढ गया। सश्रम कारावास और भूख हडताल के कारण आनन्द का वजन पन्द्रह पौंड घट गया।

और फिर आनन्द जेल से भाग निकला। वह 'अन्डर ग्राउंड' हो गया और क्रान्तिकारी दल का काम करता रहा। एक वार पुलीस से मुठभेड होने पर उसकी टाँग में गोली लगी, पर वह उसे गिरफ्तार न कर सकी।

मेरा बेटा मेरा दुश्मन

एक गाँव मे कई महीने तक आनन्द एक क्रान्ति-प्रिय किसान के घर बीमार पडा रहा। वहीं उसने अखबार मे पढा कि उसके बाप ने जेल से प्रेस को एक बयान भेजा है, कि "म अपने बेटे आनन्द की आतंकवादी, इन्क़लाबी कारवाइयों की निन्दा करता हूँ। ऐसे सिरफिरे नौजवान देश की आजादी की राह में काँटे बो रहे हैं।"

फिर सरकार और काँग्रेस क बीच समझौते के लिए बातचीत शुरू हो गयी और ठाकुर कृष्ण सिंह दूसरे नेताओं के साथ रिहा कर दिये गये। कुछ महीने के बाद आनन्द का वारट भी मसूख हो गया। बाप से मिलने और चन्द हफ्ते आराम करने वह घर आ गया। कृष्ण सिंह ने देखा कि उसका बेटा गोली के ज़ख्म और 'अडर ग्राउड' होने की मुसीबतों के कारण हड्डियों का ढाँचा रह गया है। यह देख कर, कुछ क्षणों के लिए वह सारे राजनैतिक मतभेद भूल गया। उसने बेटे को गले मे लगा लिया और उसकी आँखों मे आँसू आ गये।

३ जून का ऐलान हो गया। हिन्दुस्तान का बँटवारा हो गया। साम्प्रदायिक दगे शुरू हो गये। आनन्द नफरत की आग बुझाने में लग गया। उसका दोस्त और 'अडर ग्राउंड' समय का साथी, सलीम बिहार मे, अपने गाँव में घिर गया था। आनन्द उसे और उसके बूढे माँ-बाप और बहन को बचा कर अपने साथ घर ले आया। उसका ख्याल था कि सारे मतभेदो के होते हुए भी उसका बाप इन राष्ट्रीय मुसलमानों की पूरी रक्षा करेगा।

पर कृष्ण सिंह ने बेटे से कहा—"अपने मुसलमान दोस्तों को कहीं और ठहरा दो। लोग हम पर उगली उठा रहे हैं कि हमने मुसलमानों को शरण दे रखी है।"

आनन्द ने कहा—"वे मुसलमान ही नहीं, देशभक्त भी हैं।"

और देशभक्त कृष्ण सिंह ने कहा—"ठीक है, पर जानते हो, आज

पाकिस्तान में क्या हो रहा है ?"

आनन्द ने जवाब दिया—"वही हो रहा है, जो यहाँ हो रहा है, जो आपके दिल में हो रहा है !"

और उस रात को वह अपने दोस्त के परिवार को साथ लेकर कहीं चला गया।

(५)

कृष्ण सिंह के दिमाग पर सिनेमा के दृश्यों की तरह ये घटनाएँ उभरती रहीं, धुँधली होती रहीं, मिटती रहीं, और फिर उभरती रहीं।

उसके मित्र कभी-कभी उससे कहते—"ठाकुर साहब, आप ने बेटे को बहुत ढील दे रखी है। वह इन्कलाबी और विद्रोही होता जा रहा है।" वह जवाब देता—"अभी जवान है। जवानी में सभी बागी और इन्कलाबी हुआ करते हैं। मैं भी तो ऐसा ही था।" उसे विश्वास था कि जब जवानी का क्षणिक जोश धीमा पड जायगा तो आनन्द शारीरिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों दृष्टि से घर वापस आ जायगा।

पर वह घर वापस न आया। आया तो बेटे के रूप में नहीं, दुश्मन बन कर। ठा० कृष्ण सिंह ने मन्त्री-पद के लिए कोशिश न की थी। प्रान्तीय कॉंग्रेस कमेटी से वे अलग हो चुके थे। अधिकतर वकालत के काम में व्यस्त रहते थे। किन्तु राष्ट्रीय सरकार बनने के बाद उन्होंने सोचा कि राष्ट्रीय उद्योग को तरक्की देना उन-जैसे देशभक्त• का कर्त्तव्य है, खास कर जब ज़मींदारी खतम होने के करीब थी। इसीलिए कई और मित्रों के साथ मिल कर, उन्होंने भारत से प्रस्थान करने वाली एक अँग्रेजी कम्पनी से दो-तीन कपड़े की मिलें खरीद ली थीं। व्यक्ति-गत प्रभाव के कारण सरकारी ठेके और अन्य रिआयतें मिलने में काफी आसानी थी। जल्द ही ठाकुर कृष्ण सिंह वकील सेठ कृष्ण सिंह

पूंजीपति बन गया।

पर राष्ट्रीय उद्योग और राष्ट्रीय पूंजीपतियों की राह में ये समाजवादी रोड़े जो बाधक थे, उनका क्या किया जाय? मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। काम बन्द पड़ा था। नुकसान हो रहा था। कृष्ण सिंह का मैनेजर कहता था कि हड़ताल तोड़ने का एक ही तरीका है कि किसी तरह मज़दूरों में फूट डलवायी जाय, 'वफादार' मज़दूरों को लालच दिया जाय और यूनियन के लीडरों को गिरफ्तार कराया जाय। पर कृष्ण सिंह अभी पूरी तरह सरमायादारी के रंग में नहीं रंगा था। उसने मना कर दिया। वह चाहता था कि मज़दूरों के नेता को अपनी कानूनदानी से प्रभावित कर के समझौता कर ले। उसने मैनेजर से कहा—"मजदूरों को कहला दो कि अपने नेता को मेरे पास समझौते की बातचीत करने के लिए भेजें।"

मज़दूरों का नेता आया तो कृष्ण सिंह भौंचक्का रह गया। वह उसका बेटा आनन्द था। दाढ़ी बढ़ी हुई, कपड़े और जूते फटे हुए और आँखों में एक अजीब डरावनी चमक। आज दुश्मन बन कर आया था, लेकिन फिर भी वह उसका बेटा था। पिता के हृदय में पुत्र के प्रेम ने हल्की-सी चुटकी ली।

"मैं रिश्वत लेने नहीं आया," उसने आते ही कहा था—"आप मेरे बाप हैं, इसलिए आपको खतरे की सूचना देने आया हूँ।"

"खतरा?"

"जी हाँ, जबरदस्त खतरा!"

कृष्ण सिंह ने सोचा, शायद मज़दूर उसको क़त्ल करने की साज़िश कर रहे हैं, इसलिए उसका बेटा उसे चेतावनी देने आया है।

"जी नहीं, आपकी जान को कोई खतरा नहीं है। आपके मान, [illegible]ज और आपकी सरकार को खतरा है। . . ."

समाजवाद और पूँजीवाद की पुरानी बहस फिर छिड़ गयी। पर इस बार कृष्ण सिंह ने एक नया अस्त्र इस्तेमाल किया।

"आनन्द, क्या तुमने यह भी सोचा है कि यह मिल, जिसकी तुम ईंट से ईंट बजाने पर तुले हुए हो, एक दिन तुम्हारी ही होने वाली है।" और फिर खाँस कर दमे का ऐलान करते हुए कहा—"मैं तो, तुम जानते ही हो, चन्द दिन का मेहमान हूँ।"

आनन्द ने मुस्करा कर जवाब दिया—"और आपका समाज, आपकी आर्थिक व्यवस्था तो अब चन्द घटों ही की मेहमान है। मुझे इस लाश के सड़े हुए मास के एक टुकड़े का लालच देने की कोशिश न कीजिए। मै तो आप से भी यही कहूँगा कि इस दम तोड़ती हुई पूँजीवादी व्यवस्था की तीमारदारी छोड़ कर, ज़िन्दगी का साथ दीजिए, जनता से रिश्ता जोड़िए।"

यह कटु-व्यग्यात्मक वाक्य सुन कर, कृष्ण सिंह आग-बबूला हो गया। कहा—"याद रखो, मैं तुम्हें त्याग दूँगा। जायदाद में से एक फूटी कौड़ी..... "

"आपको तकलीफ करने की ज़रूरत नहीं, मैं आपके समाज को पहले ही छोड़ चुका हूँ।"

"गुस्ताख़! दुष्ट कहीं का!"

लेकिन एक बार फिर कृष्ण सिंह ने ग़ुस्से को क़ाबू में करके, बेटे को सीधे रास्ते पर लाने की कोशिश की—"आनन्द, मैं तुम्हारा बाप हूँ। क्या बेटे के नाते तुम्हारा यह धर्म नहीं कि मेरा कहना मानो? यह सोशलिज़्म-कम्यूनिज़्म की बकवास छोड़ दो। मै तुम्हारे ही भले के लिए कहता हूँ।"

पर आनन्द के पास हर बात का जवाब मौजूद था। "आपने अपने पिता जी की बात मानी थी? अगर हमेशा बेटों ने बाप की

बात मानी होती, तो आज दुनिया में हम लोग जानवरों की तरह पहाड़ों की खोहों में रहते, भेड़-बकरियों की खालें लपेटे फिरते, पत्थरों को रगड़ कर आग जलाया करते, दुनिया को चौकोर समझते और साँपों की पूजा किया करते।" और फिर अपने खास अन्दाज़ में मुस्करा कर कहा—"पिता जी, बेटों के आज्ञा-उल्लंघन में ही प्रगति का रहस्य निहित है।"

कृष्ण सिंह इस दार्शनिक वाद-विवाद में पड़ने को तैयार नहीं था। वह तो केवल यह जानता था कि समाजवाद के कारण उसकी हानि हो रही है और इस हानि का कारण स्वयं उसका पुत्र है, जो न केवल पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है, बल्कि उससे दुश्मनी भी कर रहा है।

क्रमशः उसका स्वर कड़ा होता गया। "जानते हो, मेरे ही कारण अब तक इस सोशलिज्म के सिलसिले में तुम गिरफ़्तार नहीं हुए। मैं नहीं चाहता था कि मज़दूरों पर ख़ामख़्वाह सख़्ती की जाय। मैं चाहता था, आसानी से समझौता हो जाय तो अच्छा है। लेकिन अब मैं लाचार हूँ, कि .."

"कि मेरी गिरफ्तारी का हुक्म जारी करायें।" आनन्द ने बाप के वाक्य को पूरा करते हुए कहा—"जानता हूँ, आप लाठी-चार्ज कराने और गोलियाँ चलवाने पर भी मजबूर होंगे। यह सरमायादारी तो अभी आपको न जाने क्या-क्या करने पर मजबूर करेगी।"

क्या यह बदतमीज़, मुँहफट, भयानक आँखों वाला लड़का उसका बेटा हो सकता है? नहीं, हरगिज़ नहीं।

"निकल जाओ! आज से मैं तुम्हारा बाप नहीं हूँ और तुम मेरे [illegible] हो।"

[illegible]ह तो मै उसी दिन जान गया था, जब आपने एक ग़रीब

किसान का मुक़दमा लेने से इन्कार किया था, और उस दिन जब आपने सरकार को खुश करने के लिए मेरे खिलाफ बयान छपवाया था, और उस दिन जब आपने मेरे दोस्तों को दगाइयो के हाथों क़त्ल होने के लिए निकाल दिया था, क्योंकि वे मुसलमान थे।"

"निकल जाओ! मैं तुम-जैसे नालायक़ का मुँह नहीं देखना चाहता।" कृष्ण सिंह की जोरदार आवाज़ ऊँची छत से टकरा कर, सारे मकान में गूँजी थी।

"बहुत अच्छा, अब मै कभी आपको अपना मुँह न दिखाऊँगा।"

वह चला गया। और संगमरमर के फर्श पर उसके पालिशहीन, टूटे, कीलें निकले हुए जूतों की दूर होती हुई आवाज़ में दृढता थी, एक भयानक संकल्प था, एक चुनौती थी।

(६)

सारे घर में सन्नाटा था और कृष्ण सिंह की रूह में भी सन्नाटा था। दीवानखाने को हर चीज़, हर दीवार, हर तस्वीर, हर मूर्ति, उसे काट खाने को दौड़ती थी। उसने अभी-अभी घर से अपने दुश्मन को नहीं निकाला था, अपने बेटे को निकाला था, एक घुँघराले बालों वाले, नन्हें-मुन्ने बच्चे को, जिसने कभी अपनी बचकानी लिपि में लिखा था, 'पिता जी, मैं भी एक दिन आपकी तरह इन्क़लाबी बनूँगा,' एक प्रतिभाशाली आँखों वाले लड़के को, जिसने स्कूल से आकर अपने हाथ दिखाये थे, जिस पर बेंत की मार के लाल-लाल निशान पड़े हुए थे, और कहा था, 'पर, पिना जी, मैं रोया नहीं, बिलकुल नहीं रोया,' और फिर रो पड़ा था। और आज उसने अपने बेटे को ही नहीं, उसकी माँ को, अपनी पत्नी राधा को भी निकाला था—वही पत्नी, जिसने जेल में उसे लिख कर भेजा था, 'अगर भाग्य में हुआ, तो आप के छूटने

पर आपके दर्शन कर लूँगी,' जो मर गयी थी, पर यह पसन्द न किया था कि उसके पति की गर्दन ज़ालिम सरकार के सामने झुके।

बेटे और पत्नी को निकाल कर आज वह अपने घर में, दुनिया में, अकेला जीवित था, बिलकुल अकेला। मगर नहीं, उसका बाप ठाकुर हरनाम सिंह अभी तक जीवित था। अपने गाँव की हवेली में रहता था। मुद्दत से कृष्ण सिंह ने बाप से मिलना-जुलना लगभग बन्द ही कर रखा था। बूढा सठिया गया था और उसका दिमाग़ शायद ठीक न रहा था। मगर फिर भी वह उसका बाप था। आज वह ज़रूर उसके पास जायगा और उससे अपने दिल का हाल बयान करेगा। शायद सिर्फ एक बाप ही उस दर्द और दुख को समझ सके, जो आज कृष्ण सिंह महसूस कर रहा था।

उसने गैरेज से मोटर निकाली और धूल उड़ाता हुआ गाँव की तरफ़ चल पड़ा।..

बूढा ठाकुर सन्ध्या कर रहा था कि कृष्ण सिंह की मोटर वहाँ पहुँची। हार्न की आवाज़ सुन कर बूढा बिगड़ खड़ा हुआ। नौकर पर चिल्लाया—"हज़ार बार कहा है कि राक्षसों का रथ मेरे अहाते में न आये। अभी शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

ठाकुर हरनाम सिंह की उम्र पैंसठ के ऊपर हो चुकी थी। सिर के बाल, जो गिरे नहीं थे, बिलकुल सफेद हो चुके थे। मुँह में एक दाँत न था, पर पोपले मुँह से जो आवाज़ निकलती थी, वह जवानों की आवाज़ों को मात करती थी। उसकी आँखों से बहुत कम सुझाई देता, पर वह विलायती चश्मा लगाने को तैयार नहीं था। कृष्ण सिंह सामने आकर खड़ा हो गया, पर उसके बाप ने उसे न पहचाना।

"कौन है?"

"मैं हूँ कृष्ण।"

"कृष्ण महाराज राक्षसों के रथ में बैठ कर क्यों आने लगे ? तू कोई ढोंगी है।"

"मैं कृष्ण महाराज नहीं, कृष्ण सिंह हूँ, आपका बेटा।"

"मेरा कोई बेटा नहीं, न मैं किसी का बाप हूँ।"

पचीस वर्ष हुए, जब कृष्ण सिंह कॉंग्रेस के सत्याग्रह में शरीक हुआ था, उस दिन हरनाम सिंह ने उसे घर से निकालते हुए कहा था—"आज से मेरा कोई बेटा नहीं, न मैं किसी का बाप।" इसके बाद जब से उसका दिमाग खराब हुआ था, उसे समय और स्थान का अन्दाजा बिलकुल जाता रहा था। उसके मस्तिष्क में भगवान कृष्ण का समय, कृष्ण सिंह का बचपन और जवानी, भूत और भविष्य, सभी मिल-जुल कर खल्त-मल्त हो गये थे।

"पिता जी, होश में आइए। मैं आपका बेटा कृष्ण सिंह हूँ। आपसे बात करने आया हूँ। मेरा बेटा आनन्द सदा के लिए घर छोड़ कर चला गया।"

"हाँ, हाँ।" बूढे ठाकुर का दिमाग़ न जाने कहाँ था। "कृष्ण घर छोड़ कर चला गया। मैंने ख़ुद उसे निकाल दिया।"

"वह मजदूरों का नेता बन गया है। मेरे ही कारखाने में हड़ताल करा रहा है।" काश, उसका बाप उससे हमदर्दी करने के काबिल होता!

"हाँ, यह सब गाँधी का किया-धरा है। वही नौजवानों को भड़का रहा है, बाग़ी बना रहा है। खुद कलक्टर साहब ने मुझ से यही कहा है।"

"मैं आनन्द की बात कर रहा हूँ, पिता जी।"

"आप फ़िक्र न कीजिए, कलक्टर साहब। उसे घर से निकाल दूँगा। हम ठाकुर सात पीढ़ियों से बादशाह सलामत के वफादार रहे

हैं। एक ठाकुर का बेटा बाग़ियों से मिल जाय, यह हो नहीं सकता।"

कृष्ण सिंह ने बाप के दिमाग़ का सन्तुलन ठीक करने की कोशिश की। "पिता जी, यह सन् बाईस नहीं, सन् उनचास है, आपका बेटा नहीं, बल्कि पोता घर छोड़ कर चला गया है। वह जमींदारों और पूंजीपतियों का खातमा करना चाहता है।"

बूढा अपनी ही हाँके जा रहा था—"बादशाह और राजा भगवान का स्वरूप होता है। जो उसके विरुद्ध होगा, उसका लोक-परलोक दोनों में नाश होगा।"

कृष्ण सिंह सहानुभूति के एक शब्द का प्यासा था। 'पिता जी, क्या यह अन्धेर नहीं कि मैंने उसे पाला-पोसा, बड़ा किया, पढाया-लिखाया और आज वह मेरा ही दुश्मन हो गया है?"

"बहुत बुरी बात है!" बूढ़ा चिल्लाया। और एक क्षण के लिए कृष्ण सिंह समझा कि उसके बाप ने उसकी बात समझ ली। लेकिन बूढा वहाँ नहीं था, कहीं और ही था। "बहुत बुरी बात है। अगरेज़ी सरकार ने हम जमींदारों को जन्म दिया, हमें पाला-पोसा और हमीं आज उसके खिलाफ विद्रोह करें! यह कभी नहीं हो सकता!"

कृष्ण सिंह को याद आया कि यह सब उसके बाप ने कितने ही वर्ष हुए, स्वय उससे कहा था। दिमाग़ के ग्रामोफोन में न जाने कैसे यह पुराना रिकार्ड चल पड़ा था।

"पिता जी, आप न जाने किस युग की बातें कर रहे हैं। अब अगरेज सरकार ने आप ही हँसी-खुशी से हमें आज़ादी दे दी है। अब झगड़ा ही दूसरा है। आनन्द और उसके साथी . "

"यह आग गाँधी की लगायी हुई है। आज सारे हिन्दुस्तानियों को सरकार के खिलाफ भड़का रहा है, कल किसानों को जमींदारों के

खिलाफ भड़कायेगा। यह विद्रोह की आग एक बार सुलग उठी तो किसी के बुझाये न बुझेगी।"

"पिता जी, ये लोग वर्ग-संघर्ष की आग लगा रहे हैं।"

"आज़ादी मांगते हैं," पोपला मुँह चिढाने के अन्दाज़ में सिकुड़ गया, "इन्क़लाब, इन्क़लाब चिल्लाते हैं! और तू ..एक ठाकुर का बेटा होकर . इन कमीनो का, इन विद्रोहियों का साथ देता है?"

"पिता जी!" कृष्ण सिंह चिल्लाया। उसे विश्वास था कि अगर उसका बाप वही पुरानी बातें दोहराता रहा, तो वह भी पागल हो जायगा।

"याद रख, कृष्ण!" बूढ़े के पोपले मुँह से जोरदार और भयानक आवाज गूँजी—"मैं तुझे निकाल दूँगा और जायदाद में से एक फूटी कौड़ी भी नहीं दूँगा।"

ये शब्द किसने, कब कहे थे? कृष्ण सिंह सोच में पड़ गया। उसके बाप ने पचीस वर्ष पहले कहे थे, या स्वय उसने कुछ घंटे पहले, या दोनों ने? उसका सिर चकरा रहा था। वह यह भूला जा रहा था कि वह कौन है, कहाँ है, क्यों है, क्या बात कर रहा है?

इतने में बूढ़े ठाकुर की धुंधली आँखो में आँसू छलक आये। वह काँपते हुए स्वर में कह रहा था—"कृष्ण, यह कॉंग्रेस और गांधी की बकवास छोड़ दे। मैं तेरे ही भले की कहता हूँ। मैं तेरा बाप हूँ। क्या बेटे के नाते तेरा यह धर्म नहीं कि तू मेरा कहना माने?"

"अगर हमेशा बेटों ने बाप की बात मानी होती तो आज दुनिया में हम लोग जानवरों की तरह पहाड़ो की खोहों में रहते, भेड़-बकरियों की खालें लपेटे फिरते, पत्थरों को रगड़ कर आग जलाया करते, दुनिया को गोल नहीं, चौकोर समझते और साँपों की पूजा किया करते। पिता जी, बेटो के आज्ञा-उल्लंघन में ही प्रगति का रहस्य

निहित है।" कृष्ण सिंह अपने ही मुँह से ये शब्द सुन कर हैरान रह गया।

उसका बाप कह रहा था—"निकल जा यहाँ से! आज से मैं तेरा बाप नहीं, और तू मेरा बेटा नहीं।"

उसे ऐसा लगा, जैसे यह ड्रामा उसका देखा हुआ हो, ये सम्वाद सुने हुए हों। क्या उसके दिमाग़ का सन्तुलन भी बिगड़ रहा था?

अपने पागल बाप को अकेला छोड़ कर वह चला आया।

(७)

घर लौटा तो दीवानखाने की सारी रोशनियाँ जल रही थीं और दरवाजे खुले थे, जैसे किसी के इन्तज़ार में।

अन्दर कमरे में हर चीज़ वैसी ही थी, जैसी वह छोड़ कर गया था, निश्चल, निष्चेष्ट, मुर्दा! उसके बाप, दादा, परदादा की तस्वीरें अपनी मुर्दा आँखों से उसे घूर रही थीं। श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया राधा उसके और संसार के झगड़ों से बेखबर अपने अमर प्रेम में खोये हुए थे। महात्मा बुद्ध और महात्मा गाँधी के बुत ताकों पर रखे हुए मुस्करा रहे थे। लोहे की तिजोरी पर उसकी सफ़ेद खद्दर की टोपी पहले ही की तरह रखी हुई थी। हर चीज खामोश थी, निश्चेष्ट थी, बेजान थी, सिवाय दीवार पर लटके हुए कैलेन्डर के, जो समय के पक्षी की तरह हवा में फड़फड़ा रहा था, और पुरानी घड़ी के, जिसकी टिकटिक न जाने उसे क्या सन्देश दे रही थी।

कृष्ण सिंह ने एक-एक कर के सब रोशनियाँ बुझा दीं। और मिस्र के बादशाहों जैसे मक़बरे में अनन्त अंधकार छा गया।

—o—